ॐ

श्रीमद्भागवतान्तर्गत

एकादश स्कन्ध

(सटीक, सचित्र)

अनुवादक

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

एक रुपया पचीस पैसे



श्रीमद्भागवतान्तर्गत

एकादश स्कन्ध

[सटीक, सचित्र]

टीकाकार-

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं०	१९८९ से २०२२ तक		३३,२५०
सं०	२०२५	आठवाँ संस्करण	५,०००
		कुल	३८,२५०

मूल्य एक रुपया पचीस पैसे

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

तीसरे संस्करणका निवेदन

यह प्रसिद्ध है कि वेदोंका विभाग, ब्रह्मसूत्र, महाभारत और अन्यान्य महापुराणोंकी रचना करनेपर भी जब श्रीव्यास-देवजीको शान्ति नहीं मिली, तब उन्होंने प्रेमावतार भगवद्भक्त-शिरोमणि देवर्षि नारदजीके उपदेशसे अन्तमें श्रीमद्भागवतकी रचना की, जिससे उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। श्रीमद्भागवत स्कन्द, पद्म आदि पुराणोंसे छोटा होनेपर भी वस्तुतः अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। कुछ अनुभवी महानुभावोंके मतमें तो श्रीमद्भागवत महापुराण वेदोंकी समता रखनेवाला है और भगवान्‌को अत्यन्त ही प्रिय है। इसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग आदिके साथ ही भगवान्‌के विचित्र चरित्रोंका ऐसा सुन्दर वर्णन है कि जिसको पढ़ते-पढ़ते मनुष्य आनन्द-सागरमें डूबने लगता है। विद्वानों-की बुद्धिकी परीक्षा भी अन्य ग्रन्थोंमें न होकर इसीमें होती है, इसीसे 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' प्रसिद्ध है। वैष्णव-आचार्यों-ने तो वेद, गीता और ब्रह्मसूत्रकी प्रस्थानत्रयीके साथ भागवतको जोड़कर उसको 'प्रस्थानचतुष्टय' बना दिया है। उनके मतमें भागवतके बिना प्रस्थानत्रयी अपूर्ण है। श्रीमद्भागवतमें कुल बारह स्कन्ध हैं, बारहों ही रससे पूर्ण हैं। जिनमें दशम और एकादश तो सर्वोपरि हैं। दशममें पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका वर्णन है और एकादशमें उनके परमानन्द और परम शान्ति प्रदान करनेवाले उपदेशोंका।

जिस प्रकार गीतामें भगवान्‌ने भक्तश्रेष्ठ सखा अर्जुनकी भक्तिपर रीझकर उसके सामने अपना दिल खोलकर रख दिया है, इसी प्रकार एकादशमें भक्तप्रवर सखा उद्धवको उन्होंने विस्तारपूर्वक विविध उपदेश दिये हैं। एकादश स्कन्धके कुल ३१ अध्यायोंमें—अध्याय ७ से लेकर २९ तक पूरे तेईस अध्यायोंमें केवल श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद ही है। इसको 'उद्धव-गीता' कहा जाता है। इसके सिवा श्रीवासुदेव-नारद-संवादमें राजा निमि और नौ योगीश्वरोंका भी बड़ा ही उपदेशपूर्ण संवाद है। एकादश स्कन्धके उपदेशोंकी वर्णन-शैली बड़ी ही सुगम, सुबोध और हृदयग्राही है। अवधूतके चौबीस गुरुओंका इतिहास इसीमें है। इस स्कन्धके उपदेशोंमेंसे कुछको भी कार्यान्वित कर लेनेसे मनुष्य-जीवन सहज ही सफल हो सकता है। इसीसे महात्माओंने इसको 'भक्ति-स्कन्ध' भी कहा है।

हिन्दी भाषानुवादसहित एकादश स्कन्धके दो संस्करण पहले प्रकाशित हो चुके हैं। पर इधर बहुत दिनोंसे यह पुस्तक अप्राप्य थी। अब भगवत्कृपासे इसका यह तीसरा संस्करण स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजीके द्वारा की हुई हिन्दी टीकासहित प्रकाशित किया जा रहा है। कल्याणकामी पाठक-पाठिकागण इसको पढ़ें, मनन करें और इसके दिव्य उपदेशोंको जीवनमें उतारकर यथार्थ लाभ उठावें, यह विनीत निवेदन है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषय-सूची

अध्याय विषय	श्लोक-संख्या	पृष्ठ-संख्या
१-यदुवंशको ऋषियोंका शाप	२४	७
२-वसुदेवजीके पास श्रीनारदजीका आना और उन्हें राजा जनक तथा नौ योगीश्वरोंका संवाद सुनाना	५५	१६
३-माया, मायासे पार होनेका उपाय तथा ब्रह्म और कर्मयोगका निरूपण	५५	३५
४-भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन ...	२३	५६
५-भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्‌की पूजा-विधिका वर्णन	५२	६६
६-देवताओंकी भगवान्‌से स्वधाम सिधारनेके लिये प्रार्थना तथा यादवोंको प्रभासक्षेत्र जानेकी तैयारी करते देखकर उद्धवका भगवान्‌के पास आना ...	५०	८४
७-अवधूतोपाख्यान-पृथ्वीसे लेकर कबूतरतक आठ गुरुओंकी कथा	७४	१०१
८-अवधूतोपाख्यान—अजगरसे लेकर पिङ्गलातक नौ गुरुओंकी कथा	४४	१२५
९-अवधूतोपाख्यान—कुररसे लेकर भृंगीतक सात गुरुओंकी कथा	३३	१३९
१०-लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंकी असारताका निरूपण	३७	१५०
११-बद्ध, मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण ...	४९	१६२
१२-सत्सङ्गकी महिमा और कर्म तथा कर्मत्याग-की विधि	२४	१७७

अध्याय विषय	श्लोक-संख्या	पृष्ठ-संख्या
१३–हंसरूपसे सनकादिको दिये हुए उपदेशका वर्णन	४२	१८७
१४–भक्तियोगकी महिमा तथा ध्यान-विधिका वर्णन	४६	२०१
१५–भिन्न-भिन्न सिद्धियोंके नाम और लक्षण ...	३६	२१५
१६–भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन ...	४४	२२५
१७–वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण	५८	२३७
१८–वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म ...	४८	२५३
१९–भक्ति, ज्ञान और यम-नियमादि साधनोंका वर्णन	४५	२६७
२०–ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग ...	३७	२८०
२१–गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप और रहस्य ...	४३	२९२
२२–तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति-विवेक ...	६०	३०६
२३–एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास ...	६२	३२५
२४–सांख्ययोग	२९	३४५
२५–तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण ...	३६	३५३
२६–पुरूरवाकी वैराग्योक्ति	३५	३६३
२७–क्रियायोगका वर्णन	५५	३७३
२८–परमार्थ-निरूपण	४४	३८८
२९–भागवतधर्मोंका निरूपण और उद्धवजीका बदरिकाश्रमगमन	४९	४०६
३०–यदुकुलका संहार	५०	४२२
३१–श्रीभगवान्‌का स्वधाम-गमन ...	२८	४३६

कुल श्लोक-सं० १३६७



जगद्गुरु श्रीकृष्ण

ॐ

श्रीमद्भागवतान्तर्गत

एकादशस्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

यदुवंशको ऋषियोंका शाप

श्रीबादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम् ॥ १ ॥

व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा अन्य यदुवंशियोंके साथ मिलकर बहुत-से दैत्योंका संहार किया तथा कौरव और पाण्डवोंमें भी शीघ्र मार-काट मचानेवाला अत्यन्त प्रबल कलह उत्पन्न करके पृथ्वीका भार उतार दिया ॥ १ ॥

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः ॥ २ ॥

कौरवोंने कपटपूर्ण जूएसे, तरह-तरहके अपमानोंसे तथा द्रौपदीके केश खींचने आदि अत्याचारोंसे पाण्डवोंको अत्यन्त क्रोधित कर दिया था। उन्हीं पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों पक्षोंमें एकत्र हुए राजाओंको मरवा डाला और इस प्रकार पृथ्वीका भार हल्का कर दिया ॥ २ ॥

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

अपने बाहुबलसे सुरक्षित यदुवंशियोंके द्वारा पृथ्वीके भार—राजा और उनकी सेनाका विनाश करके, प्रमाणोंके द्वारा ज्ञानके विषय न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि लोकदृष्टिसे पृथ्वीका भार दूर हो जानेपर भी वस्तुतः मेरी दृष्टिसे अभीतक दूर नहीं हुआ; क्योंकि जिसपर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता वह यदुवंश अभी पृथ्वीपर विद्यमान है ॥ ३ ॥

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चि-
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४ ॥

यह यदुवंश मेरे आश्रित है और हाथी, घोड़े, जनबल, धनबल आदि विशाल वैभवके कारण उच्छृङ्खल हो रहा है। अन्य किसी देवता आदिसे भी इसकी किसी प्रकार पराजय नहीं हो

सकती। बाँसके वनमें परस्पर संघर्षसे उत्पन्न अग्निके समान इस यदुवंशमें भी परस्पर कलह खड़ा करके मैं शान्ति प्राप्त कर सकूँगा और इसके बाद अपने धाममें जाऊँगा ॥ ४ ॥

एवं व्यवसितो राजन् सत्यसङ्कल्प ईश्वरः।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः ॥ ५ ॥

राजन्! भगवान् सर्वशक्तिमान् और सत्यसङ्कल्प हैं। उन्होंने इस प्रकार अपने मनमें निश्चय करके ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने ही वंशका संहार कर डाला, सबको समेटकर अपने धाममें ले गये ॥ ५ ॥

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥ ६ ॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः ॥ ७ ॥

परीक्षित्! भगवान्‌की वह मूर्ति त्रिलोकीके सौन्दर्यका तिरस्कार करनेवाली थी। उन्होंने अपनी सौन्दर्य-माधुरीसे सबके नेत्र अपनी ओर आकर्षित कर लिये थे। उनकी वाणी, उनके उपदेश परम मधुर, दिव्यातिदिव्य थे। उनके द्वारा उन्हें स्मरण करनेवालोंके चित्त उन्होंने छीन लिये थे। उनके चरणकमल त्रिलोक सुन्दर थे। जिसने उनके एक चरणचिह्नका भी दर्शन कर लिया, उसकी बहिर्मुखता दूर भाग गयी, वह कर्मप्रपञ्चसे ऊपर उठकर उन्हींकी सेवामें लग गया। उन्होंने अनायास ही पृथ्वीमें अपनी कीर्तिका विस्तार कर दिया, जिसका बड़े-बड़े सुकवियोंने बड़ी ही सुन्दर

भाषामें वर्णन किया है। वह इसलिये कि मेरे चले जानेके बाद लोग मेरी इस कीर्तिका गान, श्रवण और स्मरण करके इस अज्ञानरूप अन्धकारसे सुगमतया पार हो जायँगे। इसके बाद परमैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णने अपने धामको प्रयाण किया ॥ ६-७ ॥

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥ ८ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा--भगवन्! यदुवंशी बड़े ब्राह्मणभक्त थे। उनमें बड़ी उदारता भी थी और वे अपने कुलवृद्धोंकी नित्य-निरन्तर सेवा करनेवाले थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें लगा रहता था, फिर उनसे ब्राह्मणोंका अपराध कैसे बन गया? और क्यों ब्राह्मणोंने उन्हें शाप दिया? ॥ ८ ॥

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम।
कथमेकात्मनां भेद एतत् सर्वं वदस्व मे ॥ ९ ॥

भगवान्‌के परम प्रेमी विप्रवर! उस शापका कारण क्या था तथा क्या स्वरूप था? समस्त यदुवंशियोंके आत्मा, स्वामी और प्रियतम एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे; फिर उनमें फूट कैसे हुई? दूसरी दृष्टिसे देखें तो वे सब ऋषि अद्वैतदर्शी थे, फिर उनको ऐसी भेददृष्टि कैसे हुई? यह सब आप कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने वह शरीर धारण करके जिसमें सम्पूर्ण सुन्दर पदार्थोंका सन्निवेश था (नेत्रोंमें मृगनयन, कन्धोंमें सिंहस्कन्ध, करोंमें करि-कर, चरणोंमें कमल आदिका विन्यास था ।) पृथ्वीमें मङ्गलमय कल्याणकारी कर्मोंका आचरण किया । वे पूर्णकाम प्रभु द्वारकाधाममें रहकर क्रीडा करते रहे और उन्होंने अपनी उदार कीर्तिकी स्थापना की । (जो कीर्ति स्वयं अपने आश्रय तकका दान कर सके वह उदार है ।) अन्तमें श्रीहरिने अपने कुलके संहार—उपसंहारकी इच्छा की; क्योंकि अब पृथ्वीका भार उतरनेमें इतना ही कार्य शेष रह गया था ॥ १० ॥

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः ॥ ११ ॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः ॥ १२ ॥

१-श्रीबादरायणिरुवाच ।

भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे परम मङ्गलमय और पुण्य-प्रापक कर्म किये, जिनका गान करनेवाले लोगोंके सारे कलिमल नष्ट हो जाते हैं। अब भगवान् श्रीकृष्ण महराज उग्रसेनकी राजधानी द्वारकापुरीमें वसुदेवजीके घर यादवोंका संहार करनेके लिये कालरूपसे ही निवास कर रहे थे। उस समय उनके विदा कर देनेपर—विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि बड़े-बड़े ऋषि द्वारकाके पास ही पिण्डारकक्षेत्रमें जाकर निवास करने लगे थे॥ ११-१२॥

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत्॥ १३॥

एक दिन यदुवंशके कुछ उद्दण्ड कुमार खेलते-खेलते उनके पास जा निकले। उन्होंने बनावटी नम्रतासे उनके चरणोंमें प्रणाम करके प्रश्न किया॥ १३॥

ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा॥ १४॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् सञ्जनयिष्यति॥ १५॥

वे जाम्बवतीनन्दन साम्बको स्त्रीके वेषमें सजाकर ले गये और कहने लगे, 'ब्राह्मणो! यह कजरारी आँखोंवाली सुन्दरी गर्भवती है। यह आपसे एक बात पूछना चाहती है। परन्तु स्वयं पूछनेमें सकुचाती है। आपलोगोंका ज्ञान अमोघ—अबाध है, आप सर्वज्ञ हैं। इसे पुत्रकी बड़ी लालसा है और अब प्रसवका समय निकट

आ गया है । आपलोग बताइये, यह कन्या जनेगी या पुत्र ?' ॥ १४-१५ ॥

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप ।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम् ॥ १६ ॥

परीक्षित् ! जब उन कुमारोंने इस प्रकार उन ऋषि-मुनियोंको धोखा देना चाहा, तब वे भगवत्प्रेरणासे क्रोधित हो उठे। उन्होंने कहा—'मूर्खो ! यह एक ऐसा मूसल पैदा करेगी, जो तुम्हारे कुलका नाश करनेवाला होगा' ॥ १६ ॥

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं [1]खल्वयस्मयम् ॥ १७॥

मुनियोंकी यह बात सुनकर वे बालक बहुत ही डर गये । उन्होंने तुरंत साम्बका पेट खोलकर देखा तो सचमुच उसमें एक लोहेका मूसल मिला ॥ १७ ॥

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥ १८ ॥

अब तो वे पछताने लगे और कहने लगे—'हम बड़े अभागे हैं । देखो, हमलोगोंने यह क्या अनर्थ कर डाला ? अब लोग हमें क्या कहेंगे ? इस प्रकार वे बहुत ही घबरा गये तथा मूसल लेकर अपने निवासस्थानमें गये ॥ १८ ॥

[2]तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥ १९ ॥

१. खल्वयोमयम् । २. तं चोपनीय ।

उस समय उनके चेहरे फीके पड़ गये थे। मुख कुम्हला गये थे। उन्होंने भरी सभामें सब यादवोंके सामने ले जाकर वह मूसल रख दिया और राजा उग्रसेनसे सारी घटना कह सुनायी ॥ १९ ॥

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥ २० ॥

राजन्! जब सब लोगोंने ब्राह्मणोंके शापकी बात सुनी और अपनी आँखोंसे उस मूसलको देखा, तब सबके-सब द्वारकावासी विस्मित और भयभीत हो गये; क्योंकि वे जानते थे कि ब्राह्मणोंका शाप कभी झूठा नहीं होता ॥ २० ॥

[1]तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥ २१ ॥

यदुराज उग्रसेनने उस मूसलको चूरा-चूरा करा डाला और उस चूरे तथा लोहेके बचे हुए छोटे टुकड़ेको समुद्रमें फेंकवा दिया। (इसके सम्बन्धमें उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कोई सलाह न ली; ऐसी ही उनकी प्रेरणा थी) ॥ २१ ॥

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः ॥ २२ ॥

परीक्षित्! उस लोहेके टुकड़ेको एक मछली निगल गयी और चूरा तरङ्गोंके साथ बह-बहकर समुद्रके किनारे आ लगा। वह थोड़े दिनोंमें एरक (बिना गाँठकी एक घास) के रूपमें उग आया ॥ २२ ॥

---

१. तं चूर्णयित्वा।

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।
तस्योदरगतं लोहं[1] स शल्ये लुब्धकोऽकरोत् ॥ २३ ॥

मछली मारनेवाले मछुओंने समुद्रमें दूसरी मछलियोंके साथ उस मछलीको भी पकड़ लिया । उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था, उसको जरा नामक व्याधने अपने बाणके नोकमें लगा लिया ॥ २३ ॥

भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा ।
कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥ २४ ॥

भगवान् सब कुछ जानते थे । वे इस शापको उलट भी सकते थे फिर भी उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा । कालरूपधारी प्रभुने ब्राह्मणोंके शापका अनुमोदन ही किया ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

१- लौहं शूलेषु लु० ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

वसुदेवजीके पास श्रीनारदजीका आना और उन्हें राजा जनक तथा नौ योगीश्वरोंका संवाद सुनाना

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! देवर्षि नारदके मनमें भगवान् श्रीकृष्णकी सन्निधिमें रहनेकी बड़ी लालसा थी। इसलिये वे श्रीकृष्णके निज बाहुओंसे सुरक्षित द्वारकामें—जहाँ दक्ष आदिके शापका कोई भय नहीं था, विदा कर देनेपर भी पुनः-पुनः आकर प्रायः रहा ही करते थे ॥ १ ॥

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥

राजन् ! ऐसा कौन प्राणी है, जिसे इन्द्रियाँ तो प्राप्त हों और वह भगवान्‌के ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवताओंके भी उपास्य चरणकमलोंकी दिव्य गन्ध, मधुर मकरन्द-रस, अलौकिक रूपमाधुरी, सुकुमार स्पर्श और मङ्गलमय ध्वनिका सेवन करना न चाहे ? क्योंकि यह बेचारा प्राणी सब ओरसे मृत्युसे ही घिरा हुआ है ॥ २ ॥

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

एक दिनकी बात है, देवर्षि नारद वसुदेवजीके यहाँ पधारे।

वसुदेवजीने उनका अभिवादन किया तथा आरामसे बैठ जानेपर विधिपूर्वक उनकी पूजा की और इसके बाद पुनः प्रणाम करके उनसे यह बात कही ॥ ३ ॥

वसुदेव उवाच[1]

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥ ४ ॥

वसुदेवजीने कहा—संसारमें माता-पिताका आगमन पुत्रोंके लिये और भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेवाले साधु-संतोंका पदार्पण प्रपञ्चमें उलझे हुए दीन-दुखियोंके लिये बड़ा ही सुखकर और बड़ा ही मङ्गलमय होता है । परन्तु भगवन् ! आप तो स्वयं भगवन्मय, भगवत्स्वरूप हैं । आपका चलना-फिरना तो समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होता है ॥ ४ ॥

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ५ ॥

देवताओंके चरित्र भी कभी प्राणियोंके लिये दुःखके हेतु, तो कभी सुखके हेतु बन जाते हैं । परन्तु जो आप-जैसे भगवत्प्रेमी पुरुष हैं, जिनका हृदय, प्राण, जीवन, सब कुछ भगवन्मय हो गया है—उनकी तो प्रत्येक चेष्टा समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होती है ॥ ५ ॥

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्[2] ।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'वसुदेव उवाच' नहीं है । २. देवांस्तांस्तथैव विमत्सराः ।

जो लोग देवताओंका जिस प्रकार भजन करते हैं, देवता भी परछाईंके समान ठीक उसी रीतिसे भजन करनेवालोंको फल देते हैं; क्योंकि देवता कर्मके मन्त्री हैं, अधीन हैं। परन्तु सत्पुरुष दीन-वत्सल होते हैं अर्थात् जो सांसारिक सम्पत्ति एवं साधनसे भी हीन हैं, उन्हें अपनाते हैं ॥ ६ ॥

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव ।
याञ्छ्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतोभयात् ॥ ७ ॥

ब्रह्मन् ! (यद्यपि हम आपके शुभागमन और शुभ दर्शनसे ही कृतकृत्य हो गये हैं) तथापि आपसे उन धर्मोंके—साधनोंके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहे हैं, जिनको मनुष्य श्रद्धासे सुन भर ले तो इस सब ओरसे–भयदायक संसारसे मुक्त हो जाय ॥ ७ ॥

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥

पहले जन्ममें मैंने मुक्ति देनेवाले भगवान्‌की आराधना तो की थी, परन्तु इसलिये नहीं कि मुझे मुक्ति मिले। मेरी आराधनाका उद्देश्य था कि वे मुझे पुत्ररूपमें प्राप्त हों। उस समय मैं भगवान्‌की लीलासे मुग्ध हो रहा था ॥ ८ ॥

यथा विचित्रव्यसनाद् भवद्भिर्विश्वतोभयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

सुव्रत ! अब आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मैं इस जन्म-मृत्युरूप भयावह संसारसे—जिसमें दुःख भी सुखका विचित्र

और मोहक रूप धारण करके सामने आते हैं—अनायास ही पार हो जाऊँ ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! बुद्धिमान् वसुदेवजीने भगवान्‌के स्वरूप और गुण आदिके श्रवणके अभिप्रायसे ही यह प्रश्न किया था । देवर्षि नारद उनका प्रश्न सुनकर भगवान्‌के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणोंके स्मरणमें तन्मय हो गये और प्रेम एवं आनन्दमें भरकर वसुदेवजीसे बोले ॥ १० ॥

नारद उवाच

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत् पृच्छसे भागवतान् धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥ ११ ॥

नारदजीने कहा—यदुवंशशिरोमणे ! तुम्हारा यह निश्चय बहुत ही सुन्दर है; क्योंकि यह भागवत-धर्मके सम्बन्धमें है, जो सारे विश्वको जीवन-दान देनेवाला है, पवित्र करनेवाला है ॥ ११ ॥

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥ १२ ॥

वसुदेवजी ! यह भागवतधर्म एक ऐसी वस्तु है, जिसे कानोंसे सुनने, वाणीसे उच्चारण करने, चित्तसे स्मरण करने, हृदयसे स्वीकार करने या कोई इसका पालन करने जा रहा हो तो उसका

अनुमोदन करनेसे ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है—चाहे वह भगवान्‌का एवं सारे संसारका द्रोही ही क्यों न हो ॥ १२ ॥

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥ १३ ॥

जिनके गुण, लीला और नाम आदिका श्रवण तथा कीर्तन पतितोंको भी पावन करनेवाला है, उन्हीं परम कल्याणस्वरूप मेरे आराध्यदेव भगवान् नारायणका तुमने आज मुझे स्मरण कराया है ॥ १३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

वसुदेवजी ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है, इसके सम्बन्धमें संत पुरुष एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं । वह इतिहास है—ऋषभके पुत्र नौ योगीश्वरों और महात्मा विदेहका शुभ संवाद ॥ १४ ॥

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥ १५ ॥

तुम जानते ही हो कि स्वायम्भुव मनुके एक प्रसिद्ध पुत्र थे प्रियव्रत । प्रियव्रतके आग्नीध्र, आग्नीध्रके नाभि और नाभिके पुत्र हुए ऋषभ ॥ १५ ॥

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ॥ १६ ॥

शास्त्रोंने उन्हें भगवान् वासुदेवका अंश कहा है । मोक्षधर्मका

उपदेश करनेके लिये उन्होंने अवतार ग्रहण किया था। उनके सौ पुत्र थे और सब-के-सब वेदोंके पारदर्शी विद्वान् थे ॥ १६ ॥

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥ १७ ॥

उनमें सबसे बड़े थे राजर्षि भरत। वे भगवान् नारायणके परम प्रेमी भक्त थे। उन्हींके नामसे यह भूमिखण्ड, जो पहले 'अजनाभवर्ष' कहलाता था, 'भारतवर्ष' कहलाया। यह भारतवर्ष भी एक अलौकिक स्थान है ॥ १७ ॥

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥ १८ ॥

राजर्षि भरतने सारी पृथ्वीका राज्य-भोग किया, परन्तु अन्तमें इसे छोड़कर वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने तपस्याके द्वारा भगवान्की उपासना की और तीन जन्मोंमें वे भगवान्को प्राप्त हुए ॥ १८ ॥

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥ १९ ॥

भगवान् ऋषभदेवजीके शेष निन्यानबे पुत्रोंमें नौ पुत्र तो इस भारतवर्षके सब ओर स्थित नौ द्वीपोंके अधिपति हुए और इक्यासी पुत्र कर्मकाण्डके रचियता ब्राह्मण हो गये ॥ १९ ॥

नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥ २० ॥

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ २१ ॥

शेष नौ संन्यासी हो गये । वे बड़े ही भाग्यवान् थे । उन्होंने आत्मविद्याके सम्पादनमें बड़ा परिश्रम किया था और वास्तवमें वे उसमें बड़े निपुण थे । वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियोंको परमार्थ-वस्तुका उपदेश किया करते थे । उनके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ॥ २१ ॥

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम् ॥ २२ ॥

वे इस कार्य-कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत्को अपने आत्मासे अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करते थे ॥ २२ ॥

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥ २३ ॥

उनके लिये कहीं भी रोक-टोक न थी । वे जहाँ चाहते, चले जाते । देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोकोंमें तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थानोंमें वे स्वच्छन्द विचरते थे । वसुदेवजी ! वे सब-के-सब जीवन्मुक्त थे ॥ २३ ॥

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥ २४ ॥

एक बारकी बात है, इस अजनाभ (भारत) वर्षमें विदेहराज महात्मा निमि बड़े-बड़े ऋषियोंके द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे । पूर्वोक्त नौ योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञमें जा पहुँचे ॥ २४ ॥

तान् दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान् महाभागवतान् नृपः ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥ २५ ॥

वसुदेवजी ! वे योगीश्वर भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त और सूर्यके समान तेजस्वी थे । उन्हें देखकर राजा निमि, आहवनीय आदि मूर्तिमान् अग्नि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सब-के-सब उनके स्वागतमें खड़े हो गये ॥ २५ ॥

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ।
प्रीतः सम्पूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हतः ॥ २६ ॥

विदेहराज निमिने उन्हें भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त जानकर यथायोग्य आसनोंपर बैठाया और प्रेम तथा आनन्दसे भरकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ २६ ॥

तान् रोचमानान् स्वरुचा[1] ब्रह्मपुत्रोपमान् नव ।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥ २७ ॥

वे नवों योगीश्वर अपने अंगोंकी कान्तिसे इस प्रकार चमक रहे थे, मानो साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि मुनीश्वर ही हों !

---

१. वपुषा ।

राजा निमिने विनयसे झुककर परम प्रेमके साथ उनसे प्रश्न किया ॥ २७ ॥

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥ २८ ॥

विदेहराज निमिने कहा—भगवन् ! मैं ऐसा समझता हूँ कि आपलोग मधुसूदन भगवान्के पार्षद ही हैं, क्योंकि भगवान्के पार्षद संसारी प्राणियोंको पवित्र करनेके लिये विचरण किया करते हैं ॥ २८ ॥

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥

जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना दुर्लभ है । यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्युका भय सिरपर सवार रहता है; क्योंकि यह क्षणभङ्गुर है । इसलिये अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्के प्यारे और उनको प्यार करनेवाले भक्तजनोंका, संतोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है ॥ २९ ॥

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ॥३०॥

इसलिये त्रिलोकपावन महात्माओ ! हम आपलोगोंसे यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याणका स्वरूप क्या है ? और उसका साधन क्या है ? इस संसारमें आधे क्षणका सत्संग भी मनुष्योंके लिये परम निधि है ॥ ३० ॥

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय[1] दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥ ३१ ॥

योगीश्वरो ! यदि हम सुननेके अधिकारी हों तो आप कृपा करके भागवत-धर्मोंका उपदेश कीजिये, क्योंकि उनसे जन्मादि-विकारसे रहित, एकरस भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और उन धर्मोंका पालन करनेवाले शरणागत भक्तोंको अपने-आप तकका दान कर डालते हैं ॥ ३१ ॥

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥ ३२ ॥

देवर्षि नारदजीने कहा—वसुदेवजी ! जब राजा निमिने उन भगवत्प्रेमी संतोंसे यह प्रश्न किया, तब उन लोगोंने बड़े प्रेमसे उनका और उनके प्रश्नका सम्मान किया और सदस्य तथा ऋत्विजोंके साथ बैठे हुए राजा निमिसे बोले ॥ ३२ ॥

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥ ३३ ॥

पहले उन नौ योगीश्वरोंमेंसे कविजीने कहा—राजन् ! भक्तजनोंके हृदयसे कभी दूर न होनेवाले अच्युत भगवान्के चरणोंकी नित्य-निरन्तर उपासना ही इस संसारमें परम कल्याण—

१. प्रपन्नाय भगवान् ।

आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भयशून्य है, ऐसा मेरा निश्चित मत है। देह, गेह आदि तुच्छ एवं असत् पदार्थोंमें अहंता एवं ममता हो जानेके कारण जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासनाका अनुष्ठान करनेपर पूर्णतया निवृत्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥ ३४ ॥

भगवान्‌ने भोलेभाले अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय स्वयं श्रीमुखसे बतलाये हैं, उन्हें ही 'भागवत-धर्म' समझो ॥ ३४ ॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥ ३५ ॥

राजन्! इन भागवतधर्मोंका अवलम्बन करके मनुष्य कभी विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता और नेत्र बंद करके दौड़नेपर भी अर्थात् विधि-विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी न तो मार्गसे स्खलित ही होता है और न तो पतित—फलसे वञ्चित ही होता है ॥ ३५ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ ३६ ॥

(भागवतधर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका कर्म ही करे) वह शरीरसे, वाणीसे,

मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे। (यही सरल-से-सरल, सीधा-सा भागवतधर्म है) ॥ ३६ ॥

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥ ३७ ॥

ईश्वरसे विमुख पुरुषको उनकी मायासे अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृतिसे ही 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ,' इस प्रकारका भ्रम—विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तुमें अभिनिवेश, तन्मयता होनेके कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये अपने गुरुको ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्तिके द्वारा उस ईश्वरका भजन करना चाहिये ॥ ३७ ॥

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत् कर्मसंकल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥ ३८ ॥

राजन् ! सच पूछो तो भगवान्के अतिरिक्त, आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। परन्तु न होनेपर भी इसकी प्रतीति इसका चिन्तन करनेवालेको उसके चिन्तनके कारण, उधर मन

लगनेके कारण ही होती है—जैसे स्वप्नके समय स्वप्नद्रष्टाकी कल्पनासे अथवा जाग्रत्-अवस्थामें नाना प्रकारके मनोरथोंसे एक विलक्षण ही सृष्टि दीखने लगती है। इसलिये विचारवान् पुरुषको चाहिये कि सांसारिक कर्मोंके सम्बन्धमें सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले मनको रोक दे—कैद कर ले। बस, ऐसा करते ही उसे अभय-पदकी, परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी ॥ ३८ ॥

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ३९ ॥

संसारमें भगवान्के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये ॥ ३९ ॥

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥ ४० ॥

जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत—नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे अनुरागका, प्रेमका अङ्कुर

उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है। और दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिल-खिलाकर हँसने लगता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है॥ ४० ॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥४१॥

राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है॥ ४१ ॥

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥४२॥

जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवनशक्तिका सञ्चार) और क्षुधानिवृत्ति— ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य— इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है ॥ ४२ ॥

इत्यच्युताङ्‌घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥ ४३ ॥

राजन् ! इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक वृत्तिके द्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंका ही भजन करता है, उसे भगवान्‌के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान्‌के स्वरूपकी स्फूर्ति—ये सब अवश्य ही प्राप्त होते हैं; वह भागवत हो जाता है और जब ये सब प्राप्त हो जाते हैं, तब वह स्वयं परम शान्तिका अनुभव करने लगता है ॥ ४३ ॥

राजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥ ४४ ॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वर ! अब आप कृपा करके भगवद्भक्तका लक्षण वर्णन कीजिये । उसके क्या धर्म हैं ? और कैसा

स्वभाव होता है ? वह मनुष्योंके साथ व्यवहार करते समय कैसा आचरण करता है ? क्या बोलता है ? और किन लक्षणोंके कारण भगवान्‌का प्यारा होता है ? ॥ ४४ ॥

हरिरुवाच

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ ४५ ॥

अब नौ योगीश्वरोंमेंसे दूसरे हरिजी बोले—राजन् ! आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित है। जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्में ही आधेयरूपसे अथवा अध्यस्तरूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकारका जिसका अनुभव है, ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भगवान्‌का परमप्रेमी उत्तम भागवत समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ४६ ॥

जो भगवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुखी और अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भागवत है ॥ ४६ ॥

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ ४७॥

और जो भगवान्के अर्चा-विग्रह—मूर्ति आदिकी पूजा तो श्रद्धासे करता है, परन्तु भगवान्के भक्तों या दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह साधारण श्रेणीका भगवद्भक्त है ॥ ४७ ॥

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥ ४८ ॥

जो श्रोत्र-नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्दरूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है; परन्तु अपनी इच्छाके प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान्की माया है—वह पुरुष उत्तम भागवत है ॥ ४८ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥ ४९ ॥

संसारके धर्म हैं—जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्की स्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि इनके बार-बार होते-जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है ॥ ४९ ॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥ ५० ॥

जिसके मनमें विषय-भोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीज-वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है ॥ ५० ॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥ ५१ ॥

जिनका इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म, तपस्या आदि कर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिसे ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्‌का प्यारा है ॥ ५१ ॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥ ५२ ॥

जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें 'यह अपना है और यह पराया—' इस प्रकारका भेद-भाव नहीं रखता, समस्त पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता रहता है, समभाव रखता है तथा किसी भी घटना अथवा सङ्कल्पसे विक्षिप्त न होकर शान्त रहता है, वह भगवान्‌का उत्तम भक्त है ॥ ५२ ॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥ ५३ ॥

राजन् ! बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तः-

करणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्‌के ऐसे चरणकमलोंसे आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी संनिधि और सेवामें ही संलग्न रहता है; यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५३ ॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥ ५४ ॥

रासलीलाके अवसरपर नृत्य-गतिसे भाँति-भाँतिके पाद-विन्यास करनेवाले निखिल सौन्दर्य-माधुर्यनिधि भगवान्‌के चरणोंके अङ्गुलि-नखकी मणि-चन्द्रिकासे जिन शरणागत भक्तजनोंके हृदयका विरहजन्य संताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह फिर कैसे आ सकता है, जैसे चन्द्रोदय होनेपर सूर्यका ताप नहीं लग सकता ॥ ५४ ॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥ ५५ ॥

विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण अघ-राशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरण-कमलोंको बाँध रक्खा है, वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भगवान्के भक्तोंमें प्रधान है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

माया, मायासे पार होनेके उपाय तथा ब्रह्म और कर्मयोगका निरूपण

राजोवाच

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

राजा निमिने पूछा—भगवन् ! सर्वशक्तिमान् परम कारण विष्णुभगवान्की माया बड़े बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देती है, उसे कोई पहचान नहीं पाता (और आप कहते हैं कि भक्त उसे देखा करता है ।) अतः अब मैं उस मायाका स्वरूप जानना चाहता हूँ, आपलोग कृपा करके बतलाइये ॥ १ ॥

नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥ २ ॥

योगीश्वरो ! मैं एक मृत्युका शिकार मनुष्य हूँ । संसारके तरह-तरहके तापोंने मुझे बहुत दिनोंसे तपा रक्खा है । आपलोग जो भगवत्कथारूप अमृतका पान करा रहे हैं, वह उन तापोंको मिटानेकी एकमात्र ओषधि है; इसलिये मैं आपलोगोंकी इस वाणीका सेवन करते-करते तृप्त नहीं होता । आप कृपया और कहिये ॥ २ ॥

अन्तरिक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

अब तीसरे योगीश्वर अन्तरिक्षजीने कहा—राजन् ! (भगवान्‌की माया स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, इसलिये उसके कार्योंके द्वारा ही उसका निरूपण होता है ।) आदिपुरुष परमात्मा जिस शक्तिसे सम्पूर्ण भूतोंके कारण बनते हैं और उनके विषयभोग तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये अथवा अपने उपासकोंकी उत्कृष्ट सिद्धिके लिये स्वनिर्मित पञ्चभूतोंके द्वारा नाना प्रकारके देव, मनुष्य आदि शरीरोंकी सृष्टि करते हैं, उसीको 'माया' कहते हैं ॥ ३ ॥

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधाऽऽत्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ॥ ४ ॥

इस प्रकार पञ्च महाभूतोंके द्वारा बने हुए प्राणि-शरीरोंमें

उन्होंने अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश किया और अपनेको ही पहले एक मनके रूपमें और इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय--इन दस रूपोंमें विभक्त कर दिया तथा उन्हींके द्वारा विषयोंका भोग कराने लगे ॥ ४ ॥

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥

वह देहाभिमानी जीव अन्तर्यामीके द्वारा प्रकाशित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करता है और इस पञ्चभूतोंके द्वारा निर्मित शरीरको आत्मा—अपना स्वरूप मानकर उसीमें आसक्त हो जाता है। (यह भगवान्‌की माया है) ॥ ५ ॥

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥

अब वह कर्मेन्द्रियोंसे सकाम कर्म करता है और उनके अनुसार शुभ कर्मका फल सुख और अशुभ कर्मका फल दुःख भोग करने लगता है और शरीरधारी होकर इस संसारमें भटकने लगता है। यह भगवान्‌की माया है ॥ ६ ॥

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥

इस प्रकार यह जीव ऐसी अनेक अमङ्गलमय कर्मगतियोंको, उनके फलोंको प्राप्त होता है और महाभूतोंके प्रलयपर्यन्त विवश होकर जन्मके बाद मृत्यु और मृत्युके बाद जन्मको प्राप्त होता रहता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ ७ ॥

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥

जब पञ्चभूतोंके प्रलयका समय आता है, तब अनादि और अनन्त काल स्थूल तथा सूक्ष्म द्रव्य एवं गुणरूप इस समस्त व्यक्त सृष्टिको अव्यक्तकी ओर उसके मूल कारणकी ओर खींचता है—यह भगवान्की माया है ॥ ८ ॥

शतवर्षा[1] ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥

उस समय पृथ्वीपर लगातार सौ वर्षतक भयङ्कर सूखा पड़ता है, वर्षा बिल्कुल नहीं होती, प्रलयकालकी शक्तिसे सूर्यकी उष्णता और भी बढ़ जाती है तथा वे तीनों लोकोंको तपाने लगते हैं—यह भगवान्की माया है ॥ ९ ॥

पातालतलमारभ्य संकर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः ॥ १० ॥

उस समय शेषनाग—सङ्कर्षणके मुँहसे आगकी प्रचण्ड लपटें निकलती हैं और वायुकी प्रेरणासे वे लपटें पाताललोकसे जलाना आरम्भ करती हैं तथा और भी ऊँची-ऊँची होकर चारों ओर फैल जाती हैं—यह भगवान्की माया है ॥ १० ॥

सांवर्तको[2] मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥ ११ ॥

इसके बाद प्रलयकालीन सांवर्तक मेघगण हाथीकी सूँडके

१. शतवर्षाण्यनावृष्टिः । २. सांवर्तकः ।

समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्षतक बरसता रहता है। उससे यह विराट् ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ ११ ॥

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥

राजन् ! उस समय जैसे बिना ईंधनके आग बुझ जाती है, वैसे ही विराट् पुरुष ब्रह्मा अपने ब्रह्माण्ड-शरीरको छोड़कर सूक्ष्म-स्वरूप अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं—यह भगवान्‌की माया है ॥ १२ ॥

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥ १३ ॥

वायु पृथ्वीकी गन्ध खींच लेती है, जिससे वह जलके रूपमें हो जाती है और जब वही वायु जलके रसको खींच लेती है, तब वह जल अपना कारण अग्नि बन जाता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ १३ ॥

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥ १४ ॥

जब अन्धकार अग्निका रूप छीन लेता है, तब वह अग्नि वायुमें लीन हो जाती है और जब अवकाशरूप आकाश वायुकी स्पर्श-शक्ति छीन लेता है, तब वह आकाशमें लीन हो जाता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ १४ ॥

कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥ १५॥

राजन्! तदनन्तर कालरूप ईश्वर आकाशके शब्द गुणको हरण कर लेता है जिससे वह तामस अहङ्कारमें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ और बुद्धि राजस अहङ्कारमें लीन होती हैं। मन सात्त्विक अहङ्कारसे उत्पन्न देवताओंके साथ सात्त्विक अहङ्कारमें प्रवेश कर जाता है तथा अपने तीन प्रकारके कार्योंके साथ अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है। महत्तत्त्व प्रकृतिमें और प्रकृति ब्रह्ममें लीन होती है। फिर इसीके उलटे क्रमसे सृष्टि होती है। यह भगवान्‌की माया है॥ १५॥

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६॥

यह सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाली त्रिगुणमयी माया है। इसका हमने आपसे वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?॥ १६॥

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम्॥ १७॥

राजा निमिने पूछा—महर्षिजी! इस भगवान्‌की मायाको पार करना उन लोगोंके लिये तो बहुत ही कठिन है, जो अपने मनको

वशमें नहीं कर पाये हैं। अब आप कृपा करके यह बताइये कि जो लोग शरीर आदिमें आत्मबुद्धि रखते हैं तथा जिनकी समझ मोटी है, वे भी अनायास ही इसे कैसे पार कर सकते हैं ?॥ १७॥

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥ १८॥

अब चौथे योगीश्वर प्रबुद्धजी बोले--राजन्! स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आदि बन्धनोंमें बँधे हुए संसारी मनुष्य सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये बड़े-बड़े कर्म करते रहते हैं। जो पुरुष मायाके पार जाना चाहता है, उसको विचार करना चाहिये कि उनके कर्मोंका फल किस प्रकार विपरीत होता जाता है। वे सुखके बदले दुःख पाते हैं और दुःख-निवृत्तिके स्थानपर दिनों-दिन दुःख बढ़ता ही जाता है॥ १८॥

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः॥ १९॥

एक धनको ही लो। इससे दिन-पर-दिन दुःख बढ़ता ही है, इसको पाना भी कठिन है और यदि किसी प्रकार मिल भी जाय तो आत्माके लिये तो यह मृत्युस्वरूप ही है। जो इसकी उलझनोंमें पड़ जाता है, वह अपने-आपको भूल जाता है। इसी प्रकार घर, पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, पशु-धन आदि भी अनित्य और नाशवान् ही हैं; यदि कोई इन्हें जुटा भी ले तो इनसे क्या सुख-शान्ति मिल सकती है ?॥ १९॥

एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ २० ॥

इसी प्रकार जो मनुष्य मायासे पार जाना चाहता है, उसे यह भी समझ लेना चाहिये कि मरनेके बाद प्राप्त होनेवाले लोक—परलोक भी ऐसे ही नाशवान् हैं। क्योंकि इस लोककी वस्तुओंके समान वे भी कुछ सीमित कर्मोंके सीमित फलमात्र हैं। वहाँ पृथ्वीके छोटे-छोटे राजाओंके समान बराबरवालोंसे होड़ अथवा लाग-डाँट रहती है, अधिक ऐश्वर्य और सुखवालोंके प्रति छिद्रान्वेषण तथा ईर्ष्या-द्वेषका भाव रहता है, कम सुख और ऐश्वर्यवालोंके प्रति घृणा रहती है एवं कर्मोंका फल पूरा हो जानेपर वहाँसे पतन तो होता ही है। उसका नाश निश्चित है। नाशका भय वहाँ भी नहीं छूट पाता ॥ २० ॥

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ २१ ॥

इसलिये जो परम कल्याणका जिज्ञासु हो, उसे गुरुदेवकी शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों, जो शब्दब्रह्म—वेदोंके पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे ठीक-ठीक समझा सकें; और साथ ही परब्रह्ममें परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभवके द्वारा प्राप्त हुई रहस्यकी बातोंको बता सकें। उनका चित्त शान्त हो, व्यवहारके प्रपञ्चमें विशेष प्रवृत्त न हो ॥ २१ ॥

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः ॥ २२ ॥

जिज्ञासुको चाहिये कि गुरुको ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपटभावसे सेवा करे और उनके पास रहकर भागवतधर्मकी—भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले भक्तिभावके साधनोंकी क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनोंसे सर्वात्मा एवं भक्तको अपने आत्माका दान करनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं॥ २२॥

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥ २३॥

पहले शरीर, सन्तान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे। फिर भगवान्‌के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे॥ २३॥

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥ २४॥

मिट्टी, जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष विषादसे रहित होना सीखे॥ २४॥

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं संतोषं येन केनचित्॥ २५॥

सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतनरूपसे आत्मा और नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्त सेवन, 'यही

मेरा घर है'—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ हो तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे पुराने पवित्र चिथड़े, जो कुछ प्रारब्धके अनुसार मिल जाय, उसीमें सन्तोष करना सीखे ॥ २५ ॥

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥ २६ ॥

भगवान्की प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा और दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, प्राणायामके द्वारा मनका, मौनके द्वारा वाणीका और वासनाहीनताके अभ्याससे कर्मोंका संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर रखना और मनको कहीं बाहर न जाने देना सीखे ॥ २६ ॥

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥ २७ ॥

राजन्! भगवान्की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म-कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब भगवान्के लिये करना सीखे ॥ २७ ॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान्[1] यत् परस्मै निवेदनम् ॥ २८ ॥

यज्ञ, दान, तप अथवा जप, सदाचारका पालन और स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो—सब-का-सब भगवान्के चरणोंमें निवेदन करना, उन्हें सौंप देना सीखे ॥ २८ ॥

---

१. प्राणान् परस्मै च।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥ २९ ॥

जिन संत पुरुषोंने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका अपने आत्मा और स्वामीके रूपमें साक्षात्कार कर लिया हो, उनसे प्रेम और स्थावर, जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा; विशेष करके मनुष्योंकी, मनुष्योंमें भी परोपकारी सज्जनोंकी और उनमें भी भगवत्प्रेमी संतोंकी करना सीखे ॥ २९ ॥

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥ ३० ॥

भगवान्‌के परम पावन यशके सम्बन्धमें ही एक-दूसरेसे बात-चीत करना और इस प्रकारके साधकोंका इकट्ठे होकर आपसमें प्रेम करना, आपसमें सन्तुष्ट रहना और प्रपञ्चसे निवृत्त होकर आपसमें ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करना सीखे ॥ ३० ॥

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥ ३१ ॥

राजन् ! श्रीकृष्ण राशि-राशि पापोंको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं । सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करावें। इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेकसे पुलकित-शरीर धारण करते हैं ॥ ३१ ॥

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥ ३२ ॥

उनके हृदयकी बड़ी विलक्षण स्थिति होती है। कभी-कभी वे इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं कि अबतक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे ? इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं तो कभी भगवान्‌की लीलाकी स्फूर्ति हो जानेसे ऐसा देखकर कि परमैश्वर्यशाली भगवान् गोपियोंके डरसे छिपे हुए हैं, खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी-कभी उनके प्रेम और दर्शनकी अनुभूतिसे आनन्दमग्न हो जाते हैं तो कभी लोकातीत भावमें स्थित होकर भगवान्‌के साथ बातचीत करने लगते हैं। कभी मानो उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणोंका गान छेड़ देते हैं और कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाने लगते हैं, कभी-कभी उन्हें अपने पास न पाकर इधर-उधर ढूँढ़ने लगते हैं तो कभी-कभी उनसे एक होकर, उनकी सन्निधिमें स्थित होकर परम शान्तिका अनुभव करते और चुप हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! जो इस प्रकार भागवतधर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान् नारायणके परायण होकर उस मायाको अनायास ही पार कर जाता है, जिसके पंजेसे निकलना बहुत ही कठिन है ॥ ३३ ॥

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥ ३४ ॥

राजा निमिने पूछा—महर्षियो ! आपलोग परमात्माका वास्तविक स्वरूप जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । इसलिये मुझे यह बतलाइये कि जिस परब्रह्म परमात्माका 'नारायण' नामसे वर्णन किया जाता है, उनका स्वरूप क्या है ? ॥ ३४ ॥

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥ ३५ ॥

अब पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायनजीने कहा—राजन् ! जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त-कारण और उपादान-कारण दोनों ही है, बननेवाला भी है और बनानेवाला भी—परन्तु स्वयं कारणरहित है, जो स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति-अवस्थाओंमें उनके साक्षीके रूपमें विद्यमान रहता है और उनके अतिरिक्त समाधिमें भी ज्यों-का-त्यों एकरस रहता है; जिसकी सत्तासे ही सत्तावान् होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपना-अपना काम करनेमें समर्थ होते हैं, उसी परम सत्य वस्तुको आप 'नारायण' समझिये ॥ ३५ ॥

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥ ३६ ॥

जैसे चिनगारियाँ न तो अग्निको प्रकाशित ही कर सकती हैं और न जला ही सकती हैं, वैसे ही उस परमतत्त्वमें—आत्मस्वरूपमें न तो मनकी गति है और न वाणीकी, नेत्र उसे देख नहीं सकते और बुद्धि सोच नहीं सकती, प्राण और इन्द्रियाँ तो उसके पास-तक नहीं फटक पातीं। नेति-नेति—इत्यादि श्रुतियोंके शब्द भी वह यह है—इस रूपमें उसका वर्णन नहीं करते, बल्कि उसको बोध करानेवाले जितने भी साधन हैं, उनका निषेध करके तात्पर्य-रूपसे अपना मूल—निषेधका मूल लखा देते हैं। क्योंकि यदि निषेधके आधारकी, आत्माकी सत्ता न हो तो निषेध कौन कर रहा है, निषेधकी वृत्ति किसमें है—इन प्रश्नोंका कोई उत्तर ही न रहे, निषेधकी ही सिद्धि न हो ॥ ३६ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥ ३७ ॥

जब सृष्टि नहीं थी, तब केवल एक वही था। सृष्टिका निरूपण करनेके लिये उसीको त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम) मयी प्रकृति कहकर वर्णन किया गया। फिर उसीको ज्ञानप्रधान

होनेसे महत्तत्त्व, क्रियाप्रधान होनेसे सूत्रात्मा और जीवकी उपाधि होनेसे अहङ्कारके रूपमें वर्णन किया गया। वास्तवमें जितनी भी शक्तियाँ हैं—चाहे वे इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके रूपमें हों, चाहे इन्द्रियोंके, उनके विषयोंके अथवा विषयोंके प्रकाशके रूपमें हों—सब-का-सब वह ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्मकी शक्ति अनन्त है। कहाँतक कहूँ? जो कुछ दृश्य-अदृश्य, कार्य-कारण, सत्य और असत्य है—सब कुछ ब्रह्म है। इनसे परे जो कुछ है, वह भी ब्रह्म ही है॥ ३७॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥ ३८॥

वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है। वह न तो बढ़ता है और न घटता ही है। जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं—चाहे वे क्रिया, सङ्कल्प और उनके अभावके रूपमें ही क्यों न हों—सबकी भूत, भविष्यत् और वर्तमान सत्ताका वह साक्षी है। सबमें है। देश-काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। अविनाशी है। वह उपलब्धि करनेवाला अथवा उपलब्धिका विषय नहीं है। केवल उपलब्धिस्वरूप—ज्ञानस्वरूप है। जैसे प्राण तो एक ही रहता है, परन्तु स्थानभेदसे उसके अनेक नाम हो जाते हैं—वैसे ही ज्ञान एक होनेपर भी इन्द्रियोंके सहयोगसे उसमें अनेकताकी कल्पना हो जाती है॥ ३८॥

१. निधनविद्व्यभिचारिणाम्।

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते[1] तदनुस्मृतिर्नः ॥ ३९ ॥

जगत्‌में चार प्रकारके जीव होते हैं—अंडा फोड़कर पैदा होनेवाले पक्षी-साँप आदि, नालमें बँधे पैदा होनेवाले पशु-मनुष्य, धरती फोड़कर निकलनेवाले वृक्ष-वनस्पति और पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले खटमल आदि। इन सभी जीव-शरीरोंमें प्राणशक्ति जीवके पीछे लगी रहती है। शरीरोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राण एक ही रहता है। सुषुप्ति-अवस्थामें जब इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, अहङ्कार भी सो जाता है—लीन हो जाता है अर्थात् लिङ्गशरीर नहीं रहता, उस समय यदि कूटस्थ आत्मा भी न हो तो इस बातकी पीछेसे स्मृति ही कैसे हो कि मैं सुखसे सोया था! पीछे होनेवाली यह स्मृति ही उस समय आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करती है ॥ ३९ ॥

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि ।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः[2] ॥ ४० ॥

जब भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र भक्ति की जाती है तब वह भक्ति ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है। जब

१. आश्रयमृते। २. सवितुः प्रकाशः।

चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है—जैसे नेत्रोंके निर्विकार हो जानेपर सूर्यके प्रकाशकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है ॥ ४० ॥

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥ ४१ ॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो ! अब आपलोग हमें कर्मयोगका उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध होकर मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र परम नैष्कर्म्य अर्थात् कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलको निवृत्त करनेवाला ज्ञान प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ ४२ ॥

एक बार यही प्रश्न मैंने अपने पिता महाराज इक्ष्वाकुके सामने ब्रह्माजीके मानसपुत्र सनकादि ऋषियोंसे पूछा था, परन्तु उन्होंने सर्वज्ञ होनेपर भी मेरे प्रश्नका उत्तर न दिया। इसका क्या कारण था ? कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ ४२ ॥

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥ ४३ ॥

अब छठे योगीश्वर आविर्होत्रजीने कहा—राजन् ! कर्म (शास्त्रविहित), अकर्म (निषिद्ध) और विकर्म (विहितका उल्लङ्घन)—ये तीनों एकमात्र वेदके द्वारा जाने जाते हैं। इनकी

व्यवस्था लौकिक रीतिसे नहीं होती। वेद अपौरुषेय हैं—ईश्वररूप हैं; इसलिये उनके तात्पर्यका निश्चय करना बहुत कठिन है। इसीसे बड़े-बड़े विद्वान् भी उनके अभिप्रायका निर्णय करनेमें भूल कर बैठते हैं। (इसीसे तुम्हारे बचपनकी ओर देखकर—तुम्हें अनधिकारी समझकर सनकादि ऋषियोंने तुम्हारे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया ॥ ४३ ॥

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ ४४ ॥

यह वेद परोक्षवादात्मक* है। यह कर्मोंकी निवृत्तिके लिये कर्मका विधान करता है, जैसे बालकको मिठाई आदिका लालच देकर औषध खिलाते हैं, वैसे ही यह अनभिज्ञोंको स्वर्ग आदिका प्रलोभन देकर श्रेष्ठ कर्ममें प्रवृत्त करता है ॥ ४४ ॥

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥ ४५ ॥

जिसका अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वह यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परित्याग कर देता है, तो वह विहित कर्मोंका आचरण न करनेके कारण विकर्मरूप अधर्म ही करता है। इसलिये वह मृत्युके बाद फिर मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

---

* जिसमें शब्दार्थ कुछ और मालूम दे और तात्पर्यार्थ कुछ और हो उसे परोक्षवाद कहते हैं।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ ४६ ॥

इसलिये फलकी अभिलाषा छोड़कर और विश्वात्मा भगवान्‌को समर्पित कर जो वेदोक्त कर्मका ही अनुष्ठान करता है, उसे कर्मोंकी निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है । जो वेदोंमें स्वर्गादिरूप फलका वर्णन है, उसका तात्पर्य फलकी सत्यतामें नहीं है, वह तो कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करानेके लिये है ॥ ४६ ॥

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ ४७ ॥

राजन् ! जो पुरुष चाहता है कि शीघ्र-से-शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्माकी हृदयग्रन्थि—मैं और मेरेकी कल्पित गाँठ खुल जाय, उसे चाहिये कि वह वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पद्धतियोंसे भगवान्‌की आराधना करे ॥ ४७ ॥

लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन संदर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः ॥ ४८ ॥

पहले सेवा आदिके द्वारा गुरुदेवकी दीक्षा प्राप्त करे, फिर उनके द्वारा अनुष्ठानकी विधि सीखे; अपनेको भगवान्‌की जो मूर्ति प्रिय लगे, अभीष्ट जान पड़े, उसीके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान्‌की पूजा करे ॥ ४८ ॥

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य सन्न्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥ ४९ ॥

पहले स्नानादिसे शरीर और सन्तोष आदिसे अन्तःकरणको शुद्ध करे, इसके बाद भगवान्‌की मूर्तिके सामने बैठकर प्राणायाम

आदिके द्वारा भूत-शुद्धि—नाडी-शोधन करे, तत्पश्चात् विधिपूर्वक मन्त्र, देवता आदिके न्याससे अङ्गरक्षा करके भगवान्‌की पूजा करे ॥ ४९ ॥

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गादि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥ ५० ॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ संनिधाप्य समाहितः ।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥ ५१ ॥

पहले पुष्प आदि पदार्थोंका जन्तु आदि निकालकर, पृथ्वीको सम्मार्जन आदिसे, अपनेको अव्यग्र होकर और भगवान्‌की मूर्तिको पहलेहीकी पूजाके लगे हुए पदार्थोंके क्षालन आदिसे पूजाके योग्य बनाकर फिर आसनपर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़ककर पाद्य, अर्घ्य आदि पात्रोंको स्थापित करे। तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर हृदयमें भगवान्‌का ध्यान करके फिर उसे सामनेकी श्रीमूर्तिमें चिन्तन करे। तदनन्तर हृदय, सिर, शिखा (हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा) इत्यादि मन्त्रोंसे न्यास करे और अपने इष्टदेवके मूल मन्त्रके द्वारा देश, काल आदिके अनुकूल प्राप्त पूजा-सामग्रीसे प्रतिमा आदिमें अथवा हृदयमें भगवान्‌की पूजा करे ॥ ५०-५१ ॥

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥ ५२ ॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥ ५३ ॥

१. याद्यैर्नानावासोविभूषणैः ।

अपने-अपने उपास्यदेवके विग्रहकी हृदयादि अङ्ग, आयुधादि उपाङ्ग और पार्षदोंसहित उसके मूलमन्त्रद्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, दधि-अक्षतके[1] तिलक, माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदिसे विधिवत् पूजा करे। फिर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करे ॥ ५२-५३ ॥

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥ ५४ ॥

अपने आपको भगवन्मय ध्यान करते हुए ही भगवान्‌की मूर्तिका पूजन करना चाहिये। निर्माल्यको अपने सिरपर रक्खे और आदरके साथ भगवद्विग्रहको यथास्थान स्थापित कर पूजा समाप्त करनी चाहिये ॥ ५४ ॥

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥ ५५ ॥[2]

इस प्रकार जो पुरुष अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और अपने हृदयमें आत्मरूप श्रीहरिकी पूजा करता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

१. विष्णुभगवान्‌की पूजामें अक्षतोंका प्रयोग केवल तिलकालंकारमें ही करना चाहिये, पूजामें नहीं—'नाक्षतैरर्चयेत् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम् ।'

२. यजेदी ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो ! भगवान् स्वतन्त्रतासे अपने भक्तोंकी भक्तिके वश होकर अनेकों प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और अनेकों लीलाएँ करते हैं । आपलोग कृपा करके भगवान्‌की उन लीलाओंका वर्णन कीजिये, जो वे अबतक कर चुके हैं, कर रहे हैं या करेंगे ॥ १ ॥

द्रुमिल[1] उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः[2] ॥ २ ॥

अब सातवें योगीश्वर द्रुमिलजीने कहा—राजन् ! भगवान् अनन्त हैं । उनके गुण भी अनन्त हैं । जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणोंको गिन लूँगा, वह मूर्ख है, बालक है । यह तो सम्भव है कि कोई किसी प्रकार पृथ्वीके धूलि-कणोंको गिन ले, परन्तु समस्त शक्तियोंके आश्रय भगवान्‌के अनन्त गुणोंका कोई कभी किसी प्रकार पार नहीं पा सकता ॥ २ ॥

---

१. द्रुविड़ । २. सत्त्वधाम्नः ।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः[1] पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥

भगवान्ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इन पाँच भूतोंकी अपने-आपसे अपने-आपमें सृष्टि की है । जब वे इनके द्वारा विराट् शरीर, ब्रह्माण्डका निर्माण करके उसमें लीलासे अपने अंश अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं, (भोक्तारूपसे नहीं, क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्योंके फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदिदेव नारायणको 'पुरुष' नामसे कहते हैं, यही उनका पहला अवतार है ॥३॥

यत्काय एष भुवनत्रयसंनिवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥ ४ ॥

उन्हींके इस विराट् ब्रह्माण्ड शरीरमें तीनों लोक स्थित हैं । उन्हींकी इन्द्रियोंसे समस्त देहधारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं । उनके स्वरूपसे ही स्वतःसिद्ध ज्ञानका सञ्चार होता है । उनके श्वास-प्रश्वाससे सब शरीरोंमें बल आता है तथा इन्द्रियोंमें ओज (इन्द्रियोंकी शक्ति) और कर्म करनेकी शक्ति प्राप्त होती है । उन्हींके सत्त्व आदि गुणोंसे संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय

१. त्वविष्टः ।

होते हैं। इस विराट् शरीरके जो शरीरी हैं, वे ही आदिकर्ता नारायण हैं ॥ ४ ॥

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥ ५ ॥

पहले-पहल जगत्की उत्पत्तिके लिये उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा हुए, फिर वे आदिपुरुष ही संसारकी स्थितिके लिये अपने सत्त्वांशसे धर्म तथा ब्राह्मणोंके रक्षक यज्ञपति विष्णु बन गये। फिर वे ही तमोगुणके अंशसे जगत्के संहारके लिये रुद्र बने। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे परिवर्तनशील प्रजाकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते रहते हैं ॥ ५ ॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट [1]मूर्त्यां
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

दक्ष प्रजापतिकी एक कन्याका नाम था मूर्ति। वह धर्मकी पत्नी थी। उसके गर्भसे भगवान्ने ऋषिश्रेष्ठ शान्तात्मा 'नर' और 'नारायण' के रूपमें अवतार लिया। उन्होंने आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाले उस भगवदाराधनरूप कर्मका उपदेश किया, जो वास्तवमें कर्मबन्धनसे छुड़ानेवाला और नैष्कर्म्य स्थितिको प्राप्त करानेवाला

१. मूर्त्या।

है। उन्होंने स्वयं भी वैसे ही कर्मका अनुष्ठान किया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके चरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं। वे आज भी बदरिकाश्रममें उसी कर्मका आचरण करते हुए विराजमान हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम्।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७ ॥

ये अपनी घोर तपस्याके द्वारा मेरा धाम छीनना चाहते हैं—इन्द्रने ऐसी आशंका करके स्त्री, वसन्त आदि दल-बलके साथ कामदेवको उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये भेजा। कामदेवको भगवान्‌की महिमाका ज्ञान न था; इसलिये वह अप्सरागण, वसन्त तथा मन्द-सुगन्ध वायुके साथ बदरिकाश्रममें जाकर स्त्रियोंके कटाक्ष-बाणोंसे उन्हें घायल करनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ७ ॥

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान्।
[1]मा भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ८ ॥

आदिदेव नर-नारायणने यह जानकर कि यह इन्द्रका कुचक्र है, भयसे काँपते हुए काम आदिकोंसे हँसकर कहा—उस समय उनके मनमें किसी प्रकारका अभिमान या आश्चर्य नहीं था। 'कामदेव, मलयमारुत और देवाङ्गनाओ! तुमलोग डरो मत; हमारा

१. मा भैर्विभो।

आतिथ्य स्वीकार करो। अभी यहीं ठहरो, हमारा आश्रम सूना मत करो' ॥ ८ ॥

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।
नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥

राजन्! जब नर-नारायण ऋषिने उन्हें अभयदान देते हुए इस प्रकार कहा, तब कामदेव आदिके सिर लज्जासे झुक गये। उन्होंने दयालु भगवान् नर-नारायणसे कहा—प्रभो! आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आप मायासे परे और निर्विकार हैं। बड़े-बड़े आत्माराम और धीर पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंमें प्रणाम करते रहते हैं ॥ ९ ॥

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥ १० ॥

आपके भक्त आपकी भक्तिके प्रभावसे देवताओंकी राजधानी अमरावतीका उल्लङ्घन करके आपके परमपदको प्राप्त होते हैं। इसलिये जब वे भजन करने लगते हैं, तब देवतालोग तरह-तरहसे उनकी साधनामें विघ्न डालते हैं। किन्तु जो लोग केवल कर्मकाण्डमें लगे रहकर यज्ञादिके द्वारा देवताओंको बलिके रूपमें उनका भाग देते रहते हैं, उन लोगोंके मार्गमें वे किसी प्रकारका

विघ्न नहीं डालते। परन्तु प्रभो! आपके भक्तजन उनके द्वारा उपस्थित की हुई विघ्न-बाधाओंसे गिरते नहीं। बल्कि आपके कर-कमलोंकी छत्रछायामें रहते हुए वे विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर आगे बढ़ जाते हैं, अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते॥ १०॥

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्या-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥ ११॥

बहुत-से लोग तो ऐसे होते हैं जो भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी एवं आँधी-पानीके कष्टोंको तथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियके वेगोंको, जो अपार समुद्रोंके समान हैं, सह लेते हैं—पार कर जाते हैं। परन्तु फिर भी वे उस क्रोधके वशमें हो जाते हैं, जो गायके खुरसे बने गड्ढेके समान है और जिससे कोई लाभ नहीं है—आत्मनाशक है। और प्रभो! वे इस प्रकार अपनी कठिन तपस्याको खो बैठते हैं॥ ११॥

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः।
दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः॥ १२॥

जब कामदेव, वसन्त आदि देवताओंने इस प्रकार स्तुति की तब सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने अपने योगबलसे उनके सामने बहुत-सी ऐसी रमणियाँ प्रकट करके दिखलायीं, जो अद्भुत रूप-लावण्यसे सम्पन्न और विचित्र वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित थीं तथा भगवान्‌की सेवा कर रही थीं॥ १२॥

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः ।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥ १३ ॥

जब देवराज इन्द्रके अनुचरोंने उन लक्ष्मीजीके समान रूपवती स्त्रियोंको देखा, तब उनके महान् सौन्दर्यके सामने उनका चेहरा फीका पड़ गया । वे श्रीहीन होकर उनके शरीरसे निकलनेवाली दिव्य सुगन्धसे मोहित हो गये ॥ १३ ॥

तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव ।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥ १४ ॥

अब उनका सिर झुक गया । देवदेवेश भगवान् नारायण हँसते हुए-से उनसे बोले—'तुमलोग इनमेंसे किसी एक स्त्रीको, जो तुम्हारे अनुरूप हो, ग्रहण कर लो । वह तुम्हारे स्वर्गलोककी शोभा बढ़ानेवाली होगी' ॥ १४ ॥

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः ।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥ १५ ॥

देवराज इन्द्रके अनुचरोंने 'जो आज्ञा' कहकर भगवान्के आदेशको स्वीकार किया तथा उन्हें नमस्कार किया । फिर उनके द्वारा बनायी हुई स्त्रियोंमेंसे श्रेष्ठ अप्सरा उर्वशीको आगे करके वे स्वर्गलोकमें गये ॥ १५ ॥

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥ १६ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने इन्द्रको नमस्कार किया तथा भरी सभामें देवताओंके सामने भगवान् नर-नारायणके बल और प्रभावका

वर्णन किया। उसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त भयभीत और चकित हो गये ॥ १६ ॥

हंसस्वरूप्यवदद्च्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णुने अपने स्वरूपमें एकरस स्थित रहते हुए भी सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिये बहुत-से कलावतार ग्रहण किये हैं। विदेहराज! हंस, दत्तात्रेय, सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार और हमारे पिता ऋषभके रूपमें अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्म-साक्षात्कारके साधनोंका उपदेश किया है। उन्होंने ही हयग्रीव-अवतार लेकर मधु-कैटभ नामक असुरोंका संहार करके उन लोगोंके द्वारा चुराये हुए वेदोंका उद्धार किया है ॥ १७ ॥

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रोडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम्।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥ १८ ॥

प्रलयके समय मत्स्यावतार लेकर उन्होंने भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी और ओषधियोंकी—धान्यादिकी रक्षा की और वराहावतार ग्रहण करके पृथ्वीका रसातलसे उद्धार करते समय हिरण्याक्षका संहार किया। कूर्मावतार ग्रहण करके उन्हीं भगवान्ने अमृत-मन्थनका कार्य सम्पन्न करनेके लिये अपनी पीठपर मन्दराचल धारण

किया और उन्हीं भगवान् विष्णुने अपने शरणागत एवं आर्त भक्त गजेन्द्रको ग्राहसे छुड़ाया ॥ १८ ॥

संस्तुन्वतोऽब्धिपतितान्छ्रमणानृषींश्च
शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।
देवस्त्रियोऽसुरग्रहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥ १९ ॥

एक बार बालखिल्य ऋषि तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषिके लिये समिधा ला रहे थे, तो थककर गायके खुरसे बने हुए गड्ढेमें गिर पड़े, मानो समुद्रमें गिर गये हों! उन्होंने जब स्तुति की, तब भगवान्‌ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया! वृत्रासुरको मारनेके कारण जब इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी और वे उसके भयसे भागकर छिप गये, तब भगवान्‌ने उस हत्यासे इन्द्रकी रक्षा की; और जब असुरोंने अनाथ देवाङ्गनाओंको बन्दी बना लिया, तब भी भगवान्‌ने ही उन्हें असुरोंके चंगुलसे छुड़ाया। जब हिरण्यकशिपुके कारण प्रह्लाद आदि संत पुरुषोंको भय पहुँचने लगा, तब उनको निर्भय करनेके लिये भगवान्‌ने नृसिंहावतार ग्रहण किया और हिरण्यकशिपुको मार डाला ॥ १९ ॥

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां
याञ्चाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥ २० ॥

उन्होंने देवताओंकी रक्षाके लिये देवासुरसंग्राममें दैत्यपतियोंका वध किया और विभिन्न मन्वन्तरोंमें अपनी शक्तिसे अनेकों कलावतार धारण करके त्रिभुवनकी रक्षा की। फिर वामन-अवतार ग्रहण करके उन्होंने याचनाके बहाने इस पृथ्वीको दैत्यराज बलिसे छीन लिया और अदितिनन्दन देवताओंको दे दिया ॥ २० ॥

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥ २१ ॥

परशुराम-अवतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन किया। परशुरामजी तो हैहयवंशका प्रलय करनेके लिये मानो भृगुवंशमें अग्निरूपसे ही अवतीर्ण हुए थे। उन्हीं भगवान्‌ने रामावतारमें समुद्रपर पुल बाँधा एवं रावण और उसकी राजधानी लङ्काको मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति समस्त लोकोंके मलको नष्ट करनेवाली है। सीतापति भगवान् राम सदा-सर्वदा, सर्वत्र विजयी-ही-विजयी हैं ॥ २१ ॥

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥ २२ ॥

राजन्! अजन्मा होनेपर भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये वे ही भगवान् यदुवंशमें जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे,

जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते। फिर आगे चलकर भगवान् ही बुद्धके रूपमें प्रकट होंगे और यज्ञके अनधिकारियोंको यज्ञ करते देखकर अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कोंसे मोहित कर लेंगे और कलियुगके अन्तमें कल्कि-अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओंका वध करेंगे ॥ २२ ॥

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥ २३ ॥

महाबाहु विदेहराज! भगवान्‌की कीर्ति अनन्त है। महात्माओंने जगत्पति भगवान्‌के ऐसे-ऐसे अनेकों जन्म और कर्मोंका प्रचुरतासे गान भी किया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहिताया-
मेकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्‌की पूजाविधिका वर्णन

राजोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम् ॥ १ ॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो! आपलोग तो श्रेष्ठ आत्मज्ञानी और भगवान्‌के परमभक्त हैं। कृपा करके यह बतलाइये कि जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुई हैं, लौकिक-पारलौकिक भोगोंकी

लालसा मिटी नहीं है और मन एवं इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं हैं तथा जो प्राय: भगवान्‌का भजन भी नहीं करते, ऐसे लोगोंकी क्या गति होती है ? ॥ १ ॥

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २ ॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्[१] भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ३ ॥

अब आठवें योगीश्वर चमसजीने कहा—राजन् ! विराट् पुरुषके मुखसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व-रजःप्रधान क्षत्रिय, जाँघोंसे रजस्तमःप्रधान वैश्य और चरणोंसे तमःप्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी जाँघोंसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं। इन चारों वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता स्वयं भगवान् ही हैं। वही इनके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं। इसलिये इन वर्ण और आश्रममें रहनेवाला जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करता, बल्कि उलटा उनका अनादर करता है, वह अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य-योनिसे भी च्युत हो जाता है; उसका अधःपतन हो जाता है ॥ २-३ ॥

दूरेहरिकथाः केचिद् दूरेचाच्युतकीर्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४ ॥

१. स्थानभ्रष्टाः ।

बहुत-सी स्त्रियाँ और शूद्र आदि भगवान्‌की कथा और उनके नामकीर्तन आदिसे कुछ दूर पड़ गये हैं। वे आप-जैसे भगवद्भक्तोंकी दयाके पात्र हैं। आपलोग उन्हें कथा-कीर्तनकी सुविधा देकर उनका उद्धार करें ॥ ४ ॥

विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्मसे, वेदाध्ययनसे तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंसे भगवान्‌के चरणोंके निकटतक पहुँच चुके हैं। फिर भी वे वेदोंका असली तात्पर्य न समझकर अर्थवादमें लगकर मोहित हो जाते हैं ॥ ५ ॥

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः ॥ ६ ॥

उन्हें कर्मका रहस्य मालूम नहीं है। मूर्ख होनेपर भी वे अपनेको पण्डित मानते हैं और अभिमानमें अकड़े रहते हैं। वे मीठी-मीठी बातोंमें भूल जाते हैं और केवल वस्तु-शून्य शब्द-माधुरीके मोहमें पड़कर चटकीली-भड़कीली बातें कहा करते हैं ॥ ६ ॥

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥ ७ ॥

रजोगुणकी अधिकताके कारण उनके संकल्प बड़े घोर होते हैं। कामनाओंकी तो सीमा ही नहीं रहती, उनका क्रोध भी ऐसा होता है जैसे साँपका, बनावट और घमंडसे उन्हें प्रेम होता है। वे पापीलोग भगवान्‌के प्यारे भक्तोंकी हँसी उड़ाया करते हैं ॥ ७ ॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८ ॥

वे मूर्ख बड़े-बूढ़ोंकी नहीं, स्त्रियोंकी उपासना करते हैं। यही नहीं, वे परस्पर इकट्ठे होकर उस घर-गृहस्थीके सम्बन्धमें ही बड़े-बड़े मनसूबे बाँधते हैं, जहाँका सबसे बड़ा सुख स्त्री-सहवासमें ही सीमित है। वे यदि कभी यज्ञ भी करते हैं तो अन्न-दान नहीं करते, विधिका उल्लङ्घन करते और दक्षिणातक नहीं देते। वे कर्मका रहस्य न जाननेवाले मूर्ख केवल अपनी जीभको संतुष्ट करने और पेटकी भूख मिटाने—शरीरको पुष्ट करनेके लिये बेचारे पशुओंकी हत्या करते हैं ॥ ८ ॥

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥ ९ ॥

धन-वैभव, कुलीनता, विद्या, दान, सौन्दर्य, बल और कर्म आदिके घमंडसे अंधे हो जाते हैं तथा वे दुष्ट उन भगवत्प्रेमी संतों तथा ईश्वरका भी अपमान करते रहते हैं ॥ ॥ ९ ॥

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा [1]खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ १० ॥

१. ख० ।

राजन्! वेदोंने इस बातको बार-बार दुहराया है कि भगवान् आकाशके समान नित्य-निरन्तर समस्त शरीरधारियोंमें स्थित हैं। वे ही अपने आत्मा और प्रियतम हैं। परन्तु वे मूर्ख इस वेदवाणीको तो सुनते ही नहीं और केवल बड़े-बड़े मनोरथोंकी बात आपसमें कहते-सुनते रहते हैं॥ १०॥

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ ११॥

(वेद विधिके रूपमें ऐसे ही कर्मोंके करनेकी आज्ञा देता है, जिनमें मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती।) संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यकी ओर प्राणीकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। तब उसे उसमें प्रवृत्त करनेके लिये विधान तो हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और सौत्रामणी यज्ञके द्वारा ही जो उनके सेवनकी व्यवस्था दी गयी है, उसका अर्थ है लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिका नियन्त्रण, उनका मर्यादामें स्थापन। वास्तवमें उनकी ओरसे लोगोंको हटाना ही श्रुतिको अभीष्ट है॥ ११॥

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥ १२॥

धनका एकमात्र फल है धर्म; क्योंकि धर्मसे ही परमतत्त्वका ज्ञान और उसकी निष्ठा—अपरोक्ष अनुभूति सिद्ध होती है और निष्ठामें ही परम शान्ति है। परन्तु यह कितने खेदकी बात है कि लोग उस धनका उपयोग घर-गृहस्थीके स्वार्थोंमें या कामभोगमें ही करते हैं और यह नहीं देखते कि हमारा यह शरीर मृत्युका शिकार है और वह मृत्यु किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती॥ १२॥

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥ १३॥

सौत्रामणी यज्ञमें भी सुराको सूँघनेका ही विधान है, पीनेका नहीं। यज्ञमें पशुका आलभन (स्पर्शमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं। इसी प्रकार अपनी धर्मपत्नीके साथ मैथुनकी आज्ञा भी विषयभोगके लिये नहीं, धार्मिक परम्पराकी रक्षाके निमित्त सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही दी गयी है। परन्तु जो लोग अर्थवादके वचनोंमें फँसे हैं, विषयी हैं, वे अपने इस विशुद्ध धर्मको जानते ही नहीं॥ १३॥

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥ १४॥

जो इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते, वे घमंडी वास्तवमें तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपनेको श्रेष्ठ। वे धोखेमें पड़े हुए लोग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनेके बाद वे पशु ही उन मारनेवालोंको खाते हैं॥ १४॥

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥ १५ ॥

यह शरीर मृतक-शरीर है । इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं । जो लोग इस शरीरसे तो प्रेमकी गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान् भगवान्से द्वेष करते हैं, उन मूर्खोंका अधःपतन निश्चित है ॥ १५ ॥

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् ।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥ १६ ॥

जिन लोगोंने आत्मज्ञान सम्पादन करके कैवल्य-मोक्ष नहीं प्राप्त किया है और जो पूरे-पूरे मूढ़ भी नहीं हैं, वे अधूरे न इधरके हैं और न उधरके । वे अर्थ, धर्म, काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें फँसे रहते हैं, एक क्षणके लिये भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती । वे अपने हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हैं । ऐसे ही लोगोंको आत्मघाती कहते हैं ॥ १६ ॥

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः ।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ॥ १७ ॥

अज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियोंको कभी शान्ति नहीं मिलती, इनके कर्मोंकी परम्परा कभी शान्त नहीं होती । काल भगवान् सदा-सर्वदा इनके मनोरथोंपर पानी फेरते रहते हैं । इनके हृदयकी जलन, विषाद कभी मिटनेका नहीं ॥ १७ ॥

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १८ ॥

राजन् ! जो लोग अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं; परन्तु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहनेपर भी विवश होकर घोर नरकमें जाना पड़ता है। (भगवान्‌का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषोंकी यही गति होती है) ॥ १८ ॥

राजोवाच

कस्मिन् काले स भगवान् किंवर्णः कीदृशो नृभिः ।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥ १९ ॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो ! आपलोग कृपा करके यह बतलाइये कि भगवान् किस समय किस रंगका, कौन-सा आकार स्वीकार करते हैं और मनुष्य किन नामों और विधियोंसे उनकी उपासना करते हैं ? ॥ १९ ॥

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥ २० ॥

अब नवें योगीश्वर करभाजनजीने कहा—राजन् ! चार युग हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। इन युगोंमें भगवान्‌के अनेकों रंग, नाम और आकृतियाँ होती हैं तथा विभिन्न विधियोंसे उनकी पूजा की जाती है ॥ २० ॥

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः ।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद् दण्डकमण्डलू ॥ २१ ॥

सत्ययुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग होता है श्वेत। उनके चार भुजाएँ और सिरपर जटा होती है तथा वे वल्कलका ही

वस्त्र पहनते हैं। काले मृगका चर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्षकी माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं ॥ २१ ॥

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥ २२ ॥

सत्ययुगके मनुष्य बड़े शान्त, परस्पर वैररहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे लोग इन्द्रियों और मनको वशमें रखकर ध्यानरूप तपस्याके द्वारा सबके प्रकाशक परमात्माकी आराधना करते हैं ॥ २२ ॥

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः ।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥ २३ ॥

वे लोग हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामोंके द्वारा भगवान्के गुण, लीला आदिका गान करते हैं ॥ २३ ॥

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥ २४ ॥

राजन्! त्रेतायुगमें भगवान्के श्रीविग्रहका रंग होता है लाल। चार भुजाएँ होती हैं और कटिभागमें वे तीन मेखला धारण करते हैं। उनके केश सुनहले होते हैं और वे वेदप्रतिपादित यज्ञके रूपमें रहकर स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञ-पात्रोंको धारण किया करते हैं।

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥ २५ ॥

उस युगके मनुष्य अपने धर्ममें बड़ी निष्ठा रखनेवाले और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें बड़े प्रवीण होते हैं। वे लोग ऋग्वेद,

यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयीके द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं ॥ २५ ॥

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥ २६ ॥

त्रेतायुगमें अधिकांश लोग विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामोंसे उनके गुण और लीला आदिका कीर्तन करते हैं ॥ २६ ॥

द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥ २७ ॥

राजन् ! द्वापरयुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग होता है साँवला । वे पीताम्बर तथा शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने आयुध धारण करते हैं । वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, भृगुलता, कौस्तुभमणि आदि लक्षणोंसे वे पहचाने जाते हैं ॥ २७ ॥

तं तदा[1] पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥ २८ ॥

राजन् ! उस समय जिज्ञासु मनुष्य महाराजोंके चिह्न छत्र, चँवर आदिसे युक्त परमपुरुष भगवान्‌की वैदिक और तान्त्रिक विधिसे आराधना करते हैं ॥ २८ ॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ २९ ॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ३० ॥

---

१. तथा ।

वे लोग इस प्रकार भगवान्की स्तुति करते हैं—'हे ज्ञान-स्वरूप भगवान् वासुदेव एवं क्रियाशक्तिरूप सङ्कर्षण ! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। भगवान् प्रद्युम्न और अनिरुद्धके रूपमें हम आपको नमस्कार करते हैं। ऋषि नारायण, महात्मा नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप और सर्वभूतात्मा भगवान्को हम नमस्कार करते हैं ॥ २९-३० ॥

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥ ३१ ॥

राजन् ! द्वापरयुगमें इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान्की स्तुति करते हैं। अब कलियुगमें अनेक तन्त्रोंके विधि-विधानसे भगवान्की जैसी पूजा की जाती है, उसका वर्णन सुनो—॥ ३१ ॥

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्[1] ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥ ३२ ॥

कलियुगमें भगवान्का श्रीविग्रह होता है कृष्णवर्ण—काले रंगका। जैसे नीलम मणिमेंसे उज्ज्वल कान्तिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनके अङ्गकी छटा भी उज्ज्वल होती है। वे हृदय आदि अङ्ग, कौस्तुभ आदि उपाङ्ग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदोंसे संयुक्त रहते हैं। कलियुगमें श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करते हैं, जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है ॥ ३२ ॥

१. साङ्गोपाङ्गं सपार्षदम् ।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३३ ॥

वे लोग भगवान्की स्तुति इस प्रकार करते हैं—'प्रभो! आप शरणागतरक्षक हैं। आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करनेयोग्य, माया-मोहके कारण होनेवाले सांसारिक पराजयोंका अन्त कर देनेवाले तथा भक्तोंकी समस्त अभीष्ट वस्तुओंका दान करनेवाले कामधेनुस्वरूप हैं। वे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरूप हैं, शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरणमें आ जाय, उसे स्वीकार कर लेते हैं। सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार-सागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। महापुरुष! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ ॥ ३३ ॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं[1]
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३४ ॥

भगवन्! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे? रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंके लिये भी वाञ्छनीय और दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीको छोड़कर आपके चरणकमल

१. राजलक्ष्मीम् ।

वन-वन घूमते-फिरे ! सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा हैं । और महापुरुष ! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरण-कमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे । सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं । प्रभो ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ ॥ ३४ ॥

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरो हरिः ॥ ३५ ॥

राजन् ! इस प्रकार विभिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके अनुरूप नाम-रूपोंद्वारा विभिन्न प्रकारसे भगवान्‌की आराधना करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभी पुरुषार्थोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीहरि ही हैं ॥ ३५ ॥

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते[1] ॥ ३६ ॥

कलियुगमें केवल सङ्कीर्तनसे ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं । इसलिये इस युगका गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुगकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा प्रेम करते हैं ॥ ३६ ॥

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥ ३७ ॥

देहाभिमानी जीव संसारचक्रमें अनादि कालसे भटक रहे हैं । उनके लिये भगवान्‌की लीला, गुण और नामके कीर्तनसे बढ़कर और कोई परम लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसारमें भटकना मिट जाता है और परम शान्तिका अनुभव होता है ॥ ३७ ॥

१. ऽपि लभ्यते ।

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥ ३८॥
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी॥ ३९॥
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥ ४०॥

राजन्! सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुगमें हो; क्योंकि कलियुगमें कहीं-कहीं भगवान् नारायणके शरणागत—उन्हींके आश्रयमें रहनेवाले बहुत-से भक्त उत्पन्न होंगे। महाराज विदेह! कलियुगमें द्रविड़देशमें अधिक भक्त पाये जाते हैं; जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नामकी नदियाँ बहती हैं। राजन्! जो मनुष्य इन नदियोंका जल पीते हैं, प्रायः उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् वासुदेवके भक्त हो जाते हैं॥ ३८—४०॥

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ ४१॥

राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म-वासनाओंका अथवा भेदबुद्धिका परित्याग करके

सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल, प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है; वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बन्धनमें नहीं रहता ॥ ४१ ॥

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥ ४२ ॥

जो प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान्के चरणकमलोंका अनन्यभावसे—दूसरी भावनाओं, आस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियोंको छोड़कर—भजन करता है, उससे पहली बात तो यह है कि पापकर्म होते ही नहीं; परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जायँ तो परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसके हृदयमें बैठकर वह सब धो-बहा देते और उसके हृदयको शुद्ध कर देते हैं ॥ ४२ ॥

नारद उवाच

धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः ।
जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत् ॥ ४३ ॥

नारदजी कहते हैं—वसुदेवजी ! मिथिलानरेश राजा निमि नौ योगीश्वरोंसे इस प्रकार भागवतधर्मोंका वर्णन सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए । उन्होंने अपने ऋत्विज और आचार्योंके साथ ऋषभनन्दन नौ योगीश्वरोंकी पूजा की ॥ ४३ ॥

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः ।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥ ४४ ॥

इसके बाद सब लोगोंके सामने ही वे सिद्ध अन्तर्धान हो गये। विदेहराज निमिने उनसे सुने हुए भागवतधर्मोंका आचरण किया और परमगति प्राप्त की ॥ ४४ ॥

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताञ्छ्रुतान् ।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ॥ ४५ ॥

महाभाग्यवान् वसुदेवजी ! मैंने तुम्हारे आगे जिन भागवतधर्मोंका वर्णन किया है, तुम भी यदि श्रद्धाके साथ इनका आचरण करोगे तो अन्तमें सब आसक्तियोंसे छूटकर भगवान्का परमपद प्राप्त कर लोगे ॥ ४५ ॥

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् ।
पुत्रतामगमद् यद् वां भगवानीश्वरो हरिः ॥ ४६ ॥

वसुदेवजी ! तुम्हारे और देवकीके यशसे तो सारा जगत् भरपूर हो रहा है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४६ ॥

दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः[1] ।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥ ४७ ॥

तुमलोगोंने भगवान्के दर्शन, आलिङ्गन तथा बातचीत करने एवं उन्हें सुलाने, बैठाने, खिलाने आदिके द्वारा वात्सल्यस्नेह करके अपना हृदय शुद्ध कर लिया है; तुम परम पवित्र हो गये हो ॥ ४७ ॥

---

१. सशय्यासनभोजनैः ।

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥ ४८॥

वसुदेवजी! शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजाओंने तो वैरभावसे श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, लीला-विलास, चितवन-बोलन आदिका स्मरण किया था। वह भी नियमानुसार नहीं, सोते, बैठते, चलते, फिरते—स्वाभाविकरूपसे ही। फिर भी उनकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्णाकार हो गयी और वे सारूप्य-मुक्तिके अधिकारी हुए। फिर जो लोग प्रेमभाव और अनुरागसे श्रीकृष्णका चिन्तन करते हैं, उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति होनेमें कोई सन्देह है क्या?॥ ४८॥

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये॥ ४९॥

वसुदेवजी! तुम श्रीकृष्णको केवल अपना पुत्र ही मत समझो। वे सर्वात्मा, सर्वेश्वर कारणातीत और अविनाशी हैं। उन्होंने लीलाके लिये मनुष्यरूप प्रकट करके अपना ऐश्वर्य छिपा रक्खा है॥ ४९॥

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम्।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते॥ ५०॥

वे पृथ्वीके भारभूत राजवेषधारी असुरोंका नाश और संतोंकी रक्षा करनेके लिये तथा जीवोंको परम शान्ति और मुक्ति देनेके लिये

१. शिशुपालशाल्वपौण्ड्रादयो। २. आकृतिधियः। ३. शयनाशनादौ। ४. सर्वेश्वरे गुरौ।

ही अवतीर्ण हुए हैं और इसीके लिये जगत्‌में उनकी कीर्ति भी गायी जाती है ॥ ५० ॥

श्रीशुक उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च[2] महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥ ५१ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! नारदजीके मुखसे यह सब सुनकर परम भाग्यवान् वसुदेवजी और परम भाग्यवती देवकीजीको बड़ा ही विस्मय हुआ । उनमें जो कुछ माया-मोह अवशेष था, उसे उन्होंने तत्क्षण छोड़ दिया ॥ ५१ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद् यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५२ ॥

राजन् ! यह इतिहास परम पवित्र है । जो एकाग्रचित्तसे इसे धारण करता है, वह अपना सारा शोक-मोह दूर करके ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. तु ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

देवताओंकी भगवान्‌से स्वधाम सिधारनेके लिये प्रार्थना तथा यादवोंको प्रभासक्षेत्र जानेकी तैयारी करते देखकर उद्धवका भगवान्‌के पास आना

श्रीशुक[1] उवाच

अथ ब्रह्माऽऽत्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात्।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥
इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः ॥ २ ॥
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः ॥ ३ ॥
द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः।
वपुषा येन भगवान् नरलोकमनोरमः।
यशो वितेने[2] लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवर्षि नारद वसुदेवजीको उपदेश करके चले गये, तब अपने पुत्र सनकादिकों, देवताओं और प्रजापतियोंके साथ ब्रह्माजी, भूतगणोंके साथ सर्वेश्वर महादेवजी और मरुद्गणोंके साथ देवराज इन्द्र द्वारकानगरीमें आये।

१. श्रीबादरायणिरुवाच। २. वितनुते लोके।

साथ ही सभी आदित्यगण, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अङ्गिरा-के वंशज ऋषि, ग्यारहों रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषि, पितर, विद्याधर और किन्नर भी वहीं पहुँचे। इन लोगोंके आगमनका उद्देश्य यह था कि मनुष्यका-सा मनोहर वेष धारण करनेवाले और अपने श्यामसुन्दर विग्रहसे सभी लोगोंका मन अपनी ओर खींचकर रमा लेनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करें; क्योंकि इस समय उन्होंने अपना श्रीविग्रह प्रकट करके उसके द्वारा तीनों लोकोंमें ऐसी पवित्र कीर्तिका विस्तार किया है, जो समस्त लोकोंके पाप-तापको सदाके लिये मिटा देती है॥ १—४॥

तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम्॥ ५॥

द्वारकापुरी सब प्रकारकी सम्पत्ति और ऐश्वर्योंसे समृद्ध तथा अलौकिक दीप्तिसे देदीप्यमान हो रही थी। वहाँ आकर उन लोगोंने अनूठी छविसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन किये। भगवान्‌की रूप-माधुरीका निर्निमेष नयनोंसे पान करनेपर भी उनके नेत्र तृप्त न होते थे। वे एकटक बहुत देरतक उन्हें देखते ही रहे॥ ५॥

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम्।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्॥ ६॥

उन लोगोंने स्वर्गके उद्यान, नन्दन-वन, चैत्ररथ आदिके दिव्य पुष्पोंसे जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको ढक दिया और चित्र-विचित्र पदों तथा अर्थोंसे युक्त वाणीके द्वारा उनकी स्तुति करने लगे॥ ६॥

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥

देवताओंने प्रार्थना की—स्वामी ! कर्मोंके विकट फंदोंसे छूटनेकी इच्छावाले मुमुक्षुजन भक्ति-भावसे अपने हृदयमें जिसका चिन्तन करते रहते हैं, आपके उसी चरणकमलको हमलोगोंने अपनी बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणीसे साक्षात् नमस्कार किया है। अहो आश्चर्य है * ॥ ७ ॥

त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥ ८ ॥

अजित ! आप मायिक रज आदि गुणोंमें स्थित होकर इस अचिन्त्य नाम-रूपात्मक प्रपञ्चकी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा अपने-

* यहाँ साष्टाङ्ग-प्रणामसे तात्पर्य है—

दोर्भ्यां पादाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥

हाथोंसे, चरणोंसे, घुटनोंसे, वक्षःस्थलसे, शिरसे, नेत्रोंसे, मनसे और वाणीसे—इन आठ अङ्गोंसे किया गया प्रणाम साष्टाङ्ग प्रणाम कहलाता है।

आपमें ही रचना करते हैं, पालन करते और संहार करते हैं। यह सब करते हुए भी इन कर्मोंसे आप लिप्त नहीं होते हैं; क्योंकि आप राग-द्वेषादि दोषोंसे सर्वथा मुक्त हैं और अपने निरावरण अखण्ड स्वरूपभूत परमानन्दमें मग्न रहते हैं॥ ८॥

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥ ९॥

स्तुति करनेयोग्य परमात्मन्! जिन मनुष्योंकी चित्तवृत्ति राग-द्वेषादिसे कलुषित हैं, वे उपासना, वेदाध्ययन, दान, तपस्या और यज्ञ आदि कर्म भले ही करें; परन्तु उनकी वैसी शुद्धि नहीं हो सकती, जैसी श्रवणके द्वारा संतुष्ट शुद्धान्तःकरण सज्जन पुरुषोंकी आपकी लीलाकथा, कीर्तिके विषयमें दिनोंदिन बढ़कर परिपूर्ण होनेवाली श्रद्धासे होती है॥ ९॥

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय॥ १०॥
यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः॥ ११॥

१. आतमविद्भिः।

मननशील मुमुक्षुजन मोक्ष-प्राप्तिके लिये अपने प्रेमसे पिघले हुए हृदयके द्वारा जिन्हें लिये-लिये फिरते हैं, पाञ्चरात्र विधिसे उपासना करनेवाले भक्तजन समान ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूहके रूपमें जिनका पूजन करते हैं और जितेन्द्रिय धीर पुरुष स्वर्गलोकका अतिक्रमण करके भगवद्धामकी प्राप्तिके लिये तीनों समय जिनकी पूजा किया करते हैं, याज्ञिक लोग तीनों वेदोंके द्वारा बतलायी हुई विधिसे अपने संयत हाथोंमें हविष्य देकर यज्ञकुण्डमें आहुति देते और उन्हींका चिन्तन करते हैं। आपकी आत्मस्वरूपिणी मायाके जिज्ञासु योगीजन हृदयके अन्तर्देशमें दहरविद्या आदिके द्वारा आपके चरणकमलोंका ही ध्यान करते हैं और आपके बड़े-बड़े प्रेमी भक्तजन उन्हींको अपना परम इष्ट आराध्यदेव मानते हैं। प्रभो! आपके वे ही चरणकमल हमारी समस्त अशुभ वासनाओं—विषयवासनाओंको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हों। वे अग्निके समान हमारे पाप-तापोंको भस्म कर दें॥ १०-११॥

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥ १२॥

प्रभो! यह भगवती लक्ष्मी आपके वक्षःस्थलपर मुरझायी हुई बासी वनमालासे भी सौतकी तरह स्पर्द्धा रखती है। फिर भी आप उनकी परवा न कर भक्तोंके द्वारा इस बासी मालासे की हुई पूजा

भी प्रेमसे स्वीकार करते हैं। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुके चरणकमल सर्वदा हमारी विषय-वासनाओंको जलानेवाले अग्निस्वरूप हों॥ १२॥

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः॥ १३॥

अनन्त! वामनावतारमें दैत्यराज बलिकी दी हुई पृथ्वीको नापनेके लिये जब आपने अपना पग उठाया था और वह सत्यलोकमें पहुँच गया था, तब यह ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई बहुत बड़ा विजयध्वज हो। ब्रह्माजीके पखारनेके बाद उससे गिरती हुई गङ्गाजीके जलकी तीन धाराएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानो उसमें लगी हुई तीन पताकाएँ फहरा रही हों। उसे देखकर असुरोंकी सेना भयभीत हो गयी थी और देवसेना निर्भय। आपका वह चरण-कमल साधुस्वभाव पुरुषोंके लिये आपके धाम वैकुण्ठलोककी प्राप्तिका और दुष्टोंके लिये अधोगतिका कारण है। भगवन्! आपका वही पादपद्म हम भजन करनेवालोंके सारे पाप-ताप धो-बहा दे॥ १३॥

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य॥ १४॥

ब्रह्मा आदि जितने भी शरीरधारी हैं, वे सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके परस्परविरोधी त्रिविध भावोंकी टक्करसे जीते-मरते

रहते हैं। वे सुख-दुःखके थपेड़ोंसे बाहर नहीं हैं और ठीक वैसे ही आपके वशमें हैं, जैसे नथे हुए बैल अपने स्वामीके वशमें होते हैं। आप उनके लिये भी कालस्वरूप हैं। उनके जीवनका आदि, मध्य और अन्त आपके ही अधीन है। इतना ही नहीं, आप प्रकृति और पुरुषसे भी परे स्वयं पुरुषोत्तम हैं। आपके चरणकमल हमलोगोंका कल्याण करें ॥ १४ ॥

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥ १५ ॥

प्रभो ! आप इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं; क्योंकि शास्त्रोंने ऐसा कहा है कि आप प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके भी नियन्त्रण करनेवाले काल हैं। शीत, ग्रीष्म और वर्षाकालरूप तीन नाभियोंवाले संवत्सरके रूपमें सबको क्षयकी ओर ले जानेवाले काल आप ही हैं। आपकी गति अबाध और गम्भीर है। आप स्वयं पुरुषोत्तम हैं ॥ १५ ॥

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यया स्ववीर्यं[१]
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥ १६ ॥

यह पुरुष आपसे शक्ति प्राप्त करके अमोघवीर्य हो जाता है और फिर मायाके साथ संयुक्त होकर विश्वके महत्तत्त्वरूप गर्भका

१. समधिकृत्य ।

स्थापन करता है। इसके बाद वह महत्तत्त्व त्रिगुणमयी मायाका अनुसरण करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और मनरूप सात आवरणों (परतों) वाले इस सुवर्णवर्ण ब्रह्माण्डकी रचना करता है ॥ १६ ॥

तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥ १७ ॥

इसलिये हृषीकेश ! आप समस्त चराचर जगत्‌के अधीश्वर हैं। यही कारण है कि मायाकी गुण-विषमताके कारण बननेवाले विभिन्न पदार्थोंका उपभोग करते हुए भी आप उनमें लिप्त नहीं होते। यह केवल आपकी ही बात है। आपके अतिरिक्त दूसरे तो स्वयं उनका त्याग करके भी उन विषयोंसे डरते रहते हैं ॥ १७ ॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥ १८ ॥

सोलह हजारसे अधिक रानियाँ आपके साथ रहती हैं। वे सब अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछी चितवनसे युक्त मनोहर भौंहोंके इशारेसे और सुरतालापोंसे प्रौढ़ सम्मोहक कामबाण चलाती हैं और कामकलाकी विविध रीतियोंसे आपका मन आकर्षित करना

चाहती हैं; परन्तु फिर भी वे अपने परितुष्ट कामबाणोंसे आपका
मन तनिक भी न डिगा सकीं, वे असफल ही रहीं ॥ १८ ॥

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥ १९ ॥

आपने त्रिलोकीकी पाप-राशिको धो बहानेके लिये दो प्रकारकी पवित्र नदियाँ बहा रक्खी हैं—एक तो आपकी अमृतमयी लीलासे भरी कथानदी और दूसरी आपके पाद-प्रक्षालनके जलसे भरी गङ्गाजी। अतः सत्सङ्गसेवी विवेकीजन कानोंके द्वारा आपकी कथा-नदीमें और शरीरके द्वारा गङ्गाजीमें गोता लगाकर दोनों ही तीर्थोंका सेवन करते हैं और अपने पाप-ताप मिटा देते हैं ॥ १९ ॥

बादरायणिरुवाच

इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम् ।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! समस्त देवताओं और भगवान् शङ्करके साथ ब्रह्माजीने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति की। इसके बाद वे प्रणाम करके अपने धाममें जानेके लिये आकाशमें स्थित होकर भगवान्‌से इस प्रकार कहने लगे ॥ २० ॥

ब्रह्मोवाच

भूमेर्भारावताराय पुरा[2] विज्ञापितः प्रभो ।
त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम् ॥ २१ ॥

१. शमलं निहन्तुम् । २. सुरैः ।

ब्रह्माजीने कहा—सर्वात्मन् प्रभो ! पहले हमलोगोंने आपसे अवतार लेकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये प्रार्थना की थी। सो वह काम आपने हमारी प्रार्थनाके अनुसार ही यथोचितरूपसे पूरा कर दिया॥ २१ ॥

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसंधेषु वै त्वया।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥ २२ ॥

आपने सत्यपरायण साधुपुरुषोंके कल्याणार्थ धर्मकी स्थापना भी कर दी और दसों दिशाओंमें ऐसी कीर्ति फैला दी, जिसे सुन-सुनाकर सब लोग अपने मनका मैल मिटा देते हैं ॥ २२ ॥

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद् रूपमनुत्तमम्।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः ॥ २३ ॥

आपने यह सर्वोत्तम रूप धारण करके यदुवंशमें अवतार लिया और जगत्‌के हितके लिये उदारता और पराक्रमसे भरी अनेकों लीलाएँ कीं ॥ २३ ॥

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः ॥ २४ ॥

प्रभो ! कलियुगमें जो साधुस्वभाव मनुष्य आपकी इन लीलाओंका श्रवण-कीर्तन करेंगे, वे सुगमतासे ही इस अज्ञानरूप अन्धकारसे पार हो जायँगे ॥ २४ ॥

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥ २५ ॥

पुरुषोत्तम ! सर्वशक्तिमान् प्रभो ! आपको यदुवंशमें अवतार ग्रहण किये एक सौ पचीस वर्ष बीत गये हैं ॥ २५ ॥

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥ २६ ॥

सर्वाधार ! अब हमलोगोंका ऐसा कोई काम बाकी नहीं है, जिसे पूर्ण करनेके लिये आपके यहाँ रहनेकी आवश्यकता हो। ब्राह्मणोंके शापके कारण आपका यह कुल भी एक प्रकारसे नष्ट हो ही चुका है ॥ २६ ॥

ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ।
सलोकाँल्लोकपालान् नः पाहि वैकुण्ठकिंकरान् ॥ २७ ॥

इसलिये वैकुण्ठनाथ ! यदि आप उचित समझें तो अपने परमधाममें पधारिये और अपने सेवक हम लोकपालोंका तथा हमारे लोकोंका पालन-पोषण कीजिये ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर ।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्रह्माजी ! आप जैसा कहते हैं, मैं पहलेसे ही वैसा निश्चय कर चुका हूँ । मैंने आपलोगोंका सब काम पूरा करके पृथ्वीका भार उतार दिया ॥ २८ ॥

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम् ।
लोकं जिघृक्षद् रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥ २९ ॥

परन्तु अभी एक काम बाकी है; वह यह कि यदुवंशी

बल-विक्रम, वीरता-शूरता और धन-सम्पत्तिसे उन्मत्त हो रहे हैं। ये सारी पृथ्वीको ग्रस लेनेपर तुले हुए हैं। इन्हें मैंने ठीक वैसे ही रोक रखा है, जैसे समुद्रको उसके तटकी भूमि ॥ २९ ॥

यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम्।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति ॥ ३० ॥

यदि मैं घमंडी और उच्छृङ्खल यदुवंशियोंका यह विशाल वंश नष्ट किये बिना ही चला जाऊँगा तो ये सब मर्यादाका उल्लङ्घन करके सारे लोकोंका संहार कर डालेंगे ॥ ३० ॥

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापतः।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ ॥ ३१ ॥

निष्पाप ब्रह्माजी! अब ब्राह्मणोंके शापसे इस वंशका नाश प्रारम्भ हो चुका है। इसका अन्त हो जानेपर मैं आपके धाममें होकर जाऊँगा ॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम्।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत ॥ ३२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब अखिल लोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्माजीने उन्हें प्रणाम किया और देवताओंके साथ वे अपने धामको चले गये ॥ ३२ ॥

अथ तस्यां महोत्पातान् द्वारवत्यां समुत्थितान्।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान् समागतान् ॥ ३३ ॥

उनके जाते ही द्वारकापुरीमें बड़े-बड़े अपशकुन, बड़े-बड़े

उत्पात उठ खड़े हुए। उन्हें देखकर यदुवंशके बड़े-बूढ़े भगवान् श्रीकृष्णके पास आये। भगवान् श्रीकृष्णने उनसे यह बात कही ॥ ३३ ॥

श्रीभगवानुवाच[1]

एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः[2] ।
शापश्च नः कुलस्यासीद् ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ॥ ३४ ॥
न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः ।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं[3] यास्यामोऽद्यैव मा चिरम् ॥ ३५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—गुरुजनो! आजकल द्वारकामें जिधर देखिये, उधर ही बड़े-बड़े अपशकुन और उत्पात हो रहे हैं। आपलोग जानते ही हैं कि ब्राह्मणोंने हमारे वंशको ऐसा शाप दे दिया है, जिसे टाल सकना बहुत ही कठिन है। मेरा ऐसा विचार है कि यदि हमलोग अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हों तो हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये। अब विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमलोग आज ही परम पवित्र प्रभासक्षेत्रके लिये निकल पड़ें ॥ ३४-३५ ॥

यत्र स्नात्वा दक्षशापाद् गृहीतो यक्ष्मणोडुराट् ।
विमुक्तः किल्बिषात् सद्यो भेजे भूयः कलोदयम् ॥ ३६ ॥

प्रभासक्षेत्रकी महिमा बहुत प्रसिद्ध है। जिस समय दक्ष प्रजापतिके शापसे चन्द्रमाको राजयक्ष्मा रोगने ग्रस लिया था, उस समय उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें जाकर स्नान किया और वे तत्क्षण उस पापजन्य रोगसे छूट गये। साथ ही उन्हें कलाओंकी अभिवृद्धि भी प्राप्त हो गयी ॥ ३६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है। २. सर्वशः। ३. सुमहापुण्यम्।

वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन् सुरान् ।
भोजयित्वोशिजो विप्रान् नानागुणवतान्धसा ॥ ३७ ॥
तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै ।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥ ३८ ॥

हमलोग भी प्रभासक्षेत्रमें चलकर स्नान करेंगे, देवता एवं पितरोंका तर्पण करेंगे और साथ ही अनेकों गुणवाले पक्वान्न तैयार करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन करायेंगे। वहाँ हमलोग उन सत्पात्र ब्राह्मणोंको पूरी श्रद्धासे बड़ी-बड़ी दान-दक्षिणा देंगे और इस प्रकार उनके द्वारा अपने बड़े-बड़े सङ्कटोंको वैसे ही पार कर जायँगे, जैसे कोई जहाजके द्वारा समुद्र पार कर जाय ! ॥३७-३८॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टा यादवाः कुलनन्दन[1] ।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान् समयूयुजन् ॥ ३९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कुलनन्दन ! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आज्ञा दी, तब यदुवंशियोंने एक मतसे प्रभास जानेका निश्चय कर लिया और सब अपने-अपने रथ सजाने—जोतने लगे ॥ ३९ ॥

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन् श्रुत्वा भगवतोदितम् ।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥ ४० ॥
विविक्त उपसंगम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत ॥ ४१ ॥

१. कुरुनन्दन।

परीक्षित् ! उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी और
थे । उन्होंने जब यदुवंशियोंको यात्राकी तैयारी करते
भगवान्की आज्ञा सुनी और अत्यन्त घोर अपशकुन देखे,
जगत्के एकमात्र अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके पास एकान्तमें
उनके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जो
उनसे प्रार्थना करने लगे ॥ ४०-४१ ॥

उद्धव उवाच[1]

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन ।
संहृत्यैतत् कुलं नूनं लोकं संत्यक्ष्यते भवान् ।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥ ४

उद्धवजीने कहा—योगेश्वर ! आप देवाधिदेवोंके भी अ
हैं । आपकी लीलाओंके श्रवण-कीर्तनसे जीव पवित्र हो जाता
आप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं, आप चाहते तो ब्राह्मणोंके शा
मिटा सकते थे । परन्तु आपने वैसा किया नहीं । इससे मैं
समझ गया कि अब आप यदुवंशका संहार करके, इसे सं
अवश्य ही इस लोकका परित्याग कर देंगे ॥ ४२ ॥

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥ ४

परन्तु घुँघराली अलकोंवाले श्यामसुन्दर ! मैं आधे क्षणके
भी आपके चरणकमलोंके त्यागकी बात सोच भी नहीं सक
मेरे जीवनसर्वस्व ! मेरे स्वामी ! आप मुझे भी अपने धाम
चलिये ॥ ४३ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः ॥ ४४ ॥
शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेमहि ॥ ४५ ॥

प्यारे कृष्ण ! आपकी एक-एक लीला मनुष्योंके लिये परम मङ्गलमयी और कानोंके लिये अमृतस्वरूप है । जिसे एक बार उस रसका चसका लग जाता है, उसके मनमें फिर किसी दूसरी वस्तुके लिये लालसा ही नहीं रह जाती । प्रभो ! हम तो उठते-बैठते, सोते-जागते, घूमते-फिरते आपके साथ रहे हैं, हमने आपके साथ स्नान किया, खेल खेले, भोजन किया; कहाँतक गिनावें, हमारी एक-एक चेष्टा आपके साथ होती रही । आप हमारे प्रियतम हैं; और तो क्या आप हमारे आत्मा ही हैं, ऐसी स्थितिमें हम आपके प्रेमी भक्त आपको कैसे छोड़ सकते हैं ? ॥ ४४-४५ ॥

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥ ४६ ॥

हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने-आपको सजाते रहे । हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं । इसलिये हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे । (अतः प्रभो ! हमें आपकी मायाका डर नहीं है, डर है तो केवल आपके वियोगका) ॥ ४६ ॥

१. त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ।

वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः ॥४

हम जानते हैं कि मायाको पार कर लेना बहुत ही
है । बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दिगम्बर रहकर और आजीवन
ब्रह्मचर्यका पालन करके अध्यात्मविद्याके लिये अत्यन्त परिश्रम
हैं । इस प्रकारकी कठिन साधनासे उन संन्यासियोंके हृदय
हो पाते हैं और तब कहीं वे समस्त वृत्तियोंकी शान्ति
नैष्कर्म्य-अवस्थामें स्थित होकर आपके ब्रह्मनामक धामको
होते हैं ॥ ४७ ॥

वयं त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥ ४
स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च ।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥ ४

महायोगेश्वर ! हमलोग तो कर्म-मार्गमें ही भ्रम-भटक रहे
परन्तु इतना निश्चित है कि हम आपके भक्तजनोंके साथ
गुणों और लीलाओंकी चर्चा करेंगे तथा मनुष्यकी-सी लीला
हुए आपने जो कुछ किया या कहा है, उसका स्मरण-कीर्तन
रहेंगे । साथ ही आपकी चाल-ढाल, मुसकान-चितवन और
परिहासकी स्मृतिमें तल्लीन हो जायँगे । केवल इसीसे हम
मायाको पार कर लेंगे । (इसलिये हमें मायासे पार
नहीं, आपके विरहकी चिन्ता है । आप हमें छोड़िये नहीं,
ले चलिये) ॥ ४८-४९ ॥

श्रीशुक[1] उवाच

एवं विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः ।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥ ५० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब उद्धवजीने देवकी-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की तब उन्होंने अपने अनन्यप्रेमी सखा एवं सेवक उद्धवजीसे कहा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादश-स्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—पृथ्वीसे लेकर कबूतरतक आठ गुरुओंकी कथा

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवान् उद्धव ! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ । ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकोंमें होकर अपने धामको चला जाऊँ ॥ १ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥

पृथ्वीपर देवताओंका जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर चुका । इसी कामके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे मैं बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुआ था ॥ २ ॥

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥

अब यह यदुवंश, जो ब्राह्मणोंके शापसे भस्म हो चुका है, पारस्परिक फूट और युद्धसे नष्ट हो जायगा । आजके सातवें दिन समुद्र इस पुरी—द्वारकाको डुबो देगा ॥ ३ ॥

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः ।
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः ॥ ४ ॥

प्यारे उद्धव ! जिस क्षण मैं मर्त्यलोकका परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मङ्गल नष्ट हो जायँगे और थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीपर कलियुगका बोलबाला हो जायगा ॥ ४ ॥

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५ ॥

जब मैं इस पृथ्वीका त्याग कर दूँ, तब तुम इसपर मत रहना; क्योंकि साधु उद्धव ! कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी ॥ ५ ॥

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु[१] ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥

१. स्वजनबन्धनम् ।

अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्यप्रेमसे मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टिसे पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरण करो ॥ ६ ॥

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥

इस जगत्‌में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है । सपनेकी तरह मनका विलास है । इसलिये मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो ॥ ७ ॥

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥

जिस पुरुषका मन अशान्त है, असंयत है, उसीको पागलकी तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं; वास्तवमें यह चित्तका भ्रम ही है । नानात्वका भ्रम हो जानेपर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष' इस प्रकारकी कल्पना करनी पड़ती है । जिसकी बुद्धिमें गुण और दोषका भेद बैठ गया है, दृढ़मूल हो गया है, उसीके लिये कर्म,* अकर्म† और विकर्मरूप‡ भेदका प्रतिपादन हुआ है ॥ ८ ॥

तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥

इसलिये उद्धव ! तुम पहले अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने

---

* विहित कर्म । † विहित कर्मका लोप । ‡ निषिद्ध कर्म ।

वशमें कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथमें ले लो और इन्द्रियोंको ही नहीं, चित्तकी समस्त वृत्तियोंको भी रोक लो फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मामें फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इन्द्रियातीत ब्रह्मसे ए अभिन्न है ॥ ९ ॥

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १

जब वेदोंके मुख्य तात्पर्य–निश्चयरूप ज्ञान और अनु विज्ञानसे भलीभाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्माके आ ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधा आत्मा हो जाओगे, इसलिये किसी भी विघ्नसे तुम पीड़ित न सकोगे; क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करनेवालोंकी आत्म तुम्हीं होगे ॥ १० ॥

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥ १

जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धिसे अतीत हो जाता है बालकके समान निषिद्ध कर्मसे निवृत्त होता है, परन्तु दोष- नहीं । वह विहित कर्मका अनुष्ठान भी करता है, परन्तु बुद्धिसे नहीं ॥ ११ ॥

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥ १

जिसने श्रुतियोंके तात्पर्यका यथार्थ ज्ञान ही नहीं कर लिया बल्कि उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस

जो अटल निश्चयसे सम्पन्न हो गया है, वह समस्त प्राणियों-का हितैषी सुहृद् होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। वह समस्त प्रतीयमान विश्वको मेरा ही स्वरूप—आत्मस्वरूप देखता है; इसलिये उसे कभी जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता ॥ १२ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान्के परम प्रेमी उद्धवजीने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया ॥ १३ ॥

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव ।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः ॥ १४ ॥

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप ही समस्त योगियोंकी गुप्त पूँजी, योगोंके कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगोंके आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परम कल्याणके लिये उस संन्यासरूप त्यागका उपदेश किया है ॥ १४ ॥

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः ।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥ १५ ॥

परन्तु अनन्त! जो लोग विषयोंके चिन्तन और सेवनमें घुल-मिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय-भोगों और कामनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन है। सर्वस्वरूप! उनमें भी जो

लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकारका त्याग सर्व असम्भव ही है—ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ १६ ॥

प्रभो ! मैं भी ऐसा ही हूँ; मेरी मति इतनी मूढ हो गई है कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस भावसे मैं आपकी मायाके खेल देह और देहके सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदिमें डूब रहा हूँ। अत भगवन् ! आपने जिस संन्यासका उपदेश किया है, उसका तत्त्व मुझ सेवकको इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ ॥ १६ ॥

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥ १७ ॥

मेरे प्रभो ! आप भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालोंसे अबाधित, एकरस सत्य हैं। आप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयं-प्रकाश आत्मस्वरूप हैं। प्रभो ! मैं समझता हूँ कि मेरे लिये आत्म-तत्त्वका उपदेश करनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई नहीं है। ब्रह्मा आदि जितने बड़े-बड़े देवता हैं, वे सब शरीराभिमानी होनेके कारण आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि

मायाके वशमें हो गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियोंसे अनुभव किये जानेवाले बाह्य विषयोंको सत्य मानते हैं। इसीलिये मुझे तो आप ही उपदेश कीजिये ॥ १७ ॥

तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु[१] ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

भगवन्! इसीसे चारों ओरसे दुःखोंकी दावाग्निसे जलकर और विरक्त होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप निर्दोष, देश-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठलोकके निवासी एवं नरके नित्य सखा नारायण हैं। (अतः आप ही मुझे उपदेश कीजिये) ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! संसारमें जो मनुष्य 'यह जगत् क्या है? इसमें क्या हो रहा है?' इत्यादि बातोंका विचार करनेमें निपुण हैं, वे चित्तमें भरी हुई अशुभ वासनाओंसे अपने-आपको स्वयं अपनी-अपनी विवेकशक्तिसे ही प्रायः बचा लेते हैं ॥ १९ ॥

---

१. रिह मुहुः ।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ २० ॥

समस्त प्राणियोंका विशेषकर मनुष्यका आत्मा अपने हित और अहितका उपदेशक गुरु है । क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमानके द्वारा अपने हित-अहितका निर्णय करनेमें पूर्णतः समर्थ है ॥ २० ॥

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥ २१ ॥

सांख्ययोगविशारद धीर पुरुष इस मनुष्ययोनिमें इन्द्रियशक्ति, मन:शक्ति आदिके आश्रयभूत मुझ आत्मतत्त्वको पूर्णतः प्रकटरूपसे साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ २१ ॥

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः ।
बह्वयः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥ २२ ॥

मैंने एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, चारसे अधिक पैरवाले और बिना पैरके—इत्यादि अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया है । उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्यका ही शरीर है ॥ २२ ॥

अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३ ॥

इस मनुष्य-शरीरमें एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किये जानेवाले हेतुओंसे, जिनसे कि अनुमान भी होता है,

अनुमानसे अग्राह्य अर्थात् अहङ्कार आदि विषयोंसे भिन्न मुझ सर्वप्रवर्त्तक ईश्वरको साक्षात् अनुभव करते हैं* ॥ २३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥ २४ ॥

इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदुके संवादके रूपमें है ॥ २४ ॥

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं[1] यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥ २५ ॥

एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया ॥ २५ ॥

यदुरुवाच[2]

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा ।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥ २६ ॥

* अनुसन्धानके दो प्रकार हैं—(१) एक स्वप्रकाश तत्त्वके बिना बुद्धि आदि जड पदार्थोंका प्रकाश नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थापत्तिके द्वारा और (२) जैसे बसूला आदि औंजार किसी कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार यह बुद्धि आदि औंजार किसी कर्ताके द्वारा ही प्रयुक्त हो रहे हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा आनुमानिक है। यह तो देहादिसे विलक्षण त्वंपदार्थके शोधनकी युक्तिमात्र है।

१. करुणम्। २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

राजा यदुने पूछा—ब्रह्मन् ! आप कर्म तो करते नहीं, फि
आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई ? जिसका आश्र
लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमें विचर
रहते हैं ॥ २६ ॥

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः ।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥ २७ ॥

ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदिकी अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासा प्रवृत्त होते हैं; अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती ॥ २७ ॥

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ।
न कर्ता नेहसे किंचिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ २८ ॥

मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ, विद्वान् और निपु हैं । आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है । आपकी वाणी तो मानो अमृत टपक रहा है । फिर भी आप जड़, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान रहते हैं; न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं ॥ २८ ॥

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः ॥ २९ ॥

संसारके अधिकांश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं । परन्तु आपको देखकर ऐसा माळूम होता है कि आप मुक्त हैं, आपतक उनकी आँच भी नहीं पहुँच पाती; ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमें दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गङ्गाजलमें खड़ा हो ॥ २९ ॥

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥ ३० ॥

ब्रह्मन् ! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसारके स्पर्शसे भी रहित हैं। आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अपने आत्मामें ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है ? आप कृपा करके अवश्य बतलाइये ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव ! हमारे पूर्वज महाराज यदुकी बुद्धि शुद्ध थी और उनके हृदयमें ब्राह्मणभक्ति थी। उन्होंने परमभाग्यवान् दत्तात्रेयजीका अत्यन्त सत्कार करके यह प्रश्न पूछा और बड़े विनम्र भावसे सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये। अब दत्तात्रेयजीने कहा ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान्छृणु ॥ ३२ ॥

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—राजन् ! मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो ॥ ३२ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः ॥ ३३
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥ ३४

मेरे गुरुओंके नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट ॥ ३३-३४ ॥

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥ ३५ ॥

राजन् ! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इन्हींके आचरणसे इस लोकमें अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है ॥३५॥

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥ ३६ ॥

वीरवर ययातिनन्दन ! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ३६ ॥

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥ ३७ ॥

मैंने पृथ्वीसे उसके धैर्यकी, क्षमाकी शिक्षा ली है। लोग पृथ्वीपर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परन्तु वह न तो किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है।

संसारके सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं। धीर पुरुषको चाहिये कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोवे और न क्रोध करे। अपने मार्गपर ज्यों-का-त्यों चलता रहे ॥ ३७ ॥

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥ ३८ ॥

पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरोंका हित करनेके लिये ही हुआ है, साधु पुरुषको चाहिये कि उनको शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

प्राणवृत्त्यैव संतुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥ ३९ ॥

मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु—प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे जीवन-निर्वाह हो जाय, उतना भोजन कर ले। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये बहुत-से विषय न चाहे। संक्षेपमें उतने ही विषयोंका उपयोग करना चाहिये, जिनसे बुद्धि विकृत न हो, मन चञ्चल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोंमें न लग जाय ॥ ३९ ॥

विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥ ४० ॥

शरीरके बाहर रहनेवाले वायुसे मैंने यह सीखा है कि जैसे वायुको अनेक स्थानोंमें जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसीका भी गुण-दोष नहीं अपनाता, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यकता होनेपर विभिन्न प्रकारके धर्म और स्वभाववाले विषयोंमें जाय, परन्तु अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे । किसीके गुण या दोषकी ओर झुक न जाय, किसीसे आसक्ति या द्वेष न कर बैठे ॥ ४० ॥

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥ ४१ ॥

गन्ध वायुका गुण नहीं, पृथ्वीका गुण है । परन्तु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है । ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्धसे उसका सम्पर्क नहीं होता । वैसे ही साधकका जबतक इस पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे इसकी व्याधि-पीड़ा और भूख-प्यास आदिका भी वहन करना पड़ता है । परन्तु अपनेको शरीर नहीं, आत्माके रूपमें देखनेवाला साधक शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है ॥ ४१ ॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥ ४२ ॥

राजन् ! जितने भी घट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आकाश एक और अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है। वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मारूपसे सर्वत्र स्थित होनेके कारण ब्रह्म सभीमें है। साधकको चाहिये कि सूतके मनियोंमें व्याप्त सूतके समान आत्माको अखण्ड और असङ्गरूपसे देखे। वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाशसे ही की जा सकती है। इसलिये साधकको आत्माकी आकाशरूपताकी भावना करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥ ४३ ॥

आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायुकी प्रेरणासे बादल आदि आते और चले जाते हैं; यह सब होनेपर भी आकाश अछूता रहता है। आकाशकी दृष्टिसे यह सब कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्यके चक्करमें न जाने किन-किन नामरूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं; परन्तु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है ॥ ४३ ॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥ ४४ ॥

जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करनेवाला होता है तथा गङ्गा आदि तीर्थोंके दर्शन स्पर्श और नामोच्चारणसे भी लोग पवित्र हो जाते हैं—वैसे ही

साधकको भी स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये। जलसे शिक्षा ग्रहण करनेवाला अपने दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोगोंको पवित्र कर देता है ॥ ४४ ॥

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥ ४५ ॥

राजन्! मैंने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं— सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है और जैसे सब कुछ खा-पी लेनेपर भी विभिन्न वस्तुओंके दोषोंसे वह लिप्त नहीं होती; वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्यासे देदीप्यमान, इन्द्रियोंसे अपराभूत भोजनमात्रका संग्रही और यथायोग्य सभी विषयोंका उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रक्खे, किसीका दोष अपनेमें न आने दे ॥ ४५ ॥

क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम् ।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम् ॥ ४६ ॥

जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदिमें) अप्रकट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाय। वह कहीं-कहीं ऐसे रूपमें भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याणकामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। वह अग्निके समान ही भिक्षारूप हवन करनेवालोंके अतीत और भावी अशुभको भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है ॥ ४६ ॥

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥ ४७ ॥

साधक पुरुषको इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि लंबी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लंबी-चौड़ी दिखायी पड़ती है—वास्तवमें वह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है ॥ ४७ ॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना[1] ॥ ४८ ॥

मैंने चन्द्रमासे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है, वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीरकी हैं, आत्मासे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ४८ ॥

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥ ४९ ॥

जैसे आगकी लपट अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है—उनका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परन्तु दीख नहीं पड़ता—वैसे ही जलप्रवाहके समान वेगवान्

१. नाव्यक्तमूर्तिना ।

कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है; परन्तु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं[1] विमुञ्चति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥ ५० ॥

राजन्! मैंने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचते और समयपर उसे बरसा देते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा समयपर विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर उनका त्याग—उनका दान भी कर देता है। किसी भी समय उसे इन्द्रियके किसी भी विषयमें आसक्ति नहीं होती ॥ ५० ॥

बुध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥ ५१ ॥

स्थूलबुद्धि पुरुषोंको जलके विभिन्न पात्रोंमें प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य उन्हींमें प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है। परन्तु इससे स्वरूपतः सूर्य अनेक नहीं हो जाता; वैसे ही चल-अचल उपाधियोंके भेदसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा अलग-अलग है। परन्तु जिनको ऐसा मालूम होता है, उनकी बुद्धि मोटी है। असल बात तो यह है कि आत्मा सूर्यके समान एक ही है। स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है ॥ ५१ ॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन् विन्देत संतापं कपोत इव दीनधीः ॥ ५२ ॥

---

१. यथाकाले ।

राजन्! कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति न करनी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा ॥ ५२ ॥

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः ॥ ५३ ॥

राजन्! किसी जंगलमें एक कबूतर रहता था। उसने एक पेड़पर अपना घोंसला बना रक्खा था। अपनी मादा कबूतरीके साथ वह कई वर्षोंतक उसी घोंसलेमें रहा ॥ ५३ ॥

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥ ५४ ॥

उस कबूतरके जोड़ेके हृदयमें निरन्तर एक दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी। वे गृहस्थधर्ममें इतने आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरेकी दृष्टि-से-दृष्टि, अङ्ग-से-अङ्ग और बुद्धि-से-बुद्धिको बाँध रक्खा था ॥ ५४ ॥

शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम् ।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥ ५५ ॥

उनका एक-दूसरेपर इतना विश्वास हो गया था कि वे निःशङ्क होकर वहाँकी वृक्षावलीमें एक साथ सोते, बैठते, घूमते-फिरते, ठहरते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे ॥ ५५ ॥

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।
तं तं समानयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥ ५६ ॥

१. राजन्नत्यर्थमनु० ।

राजन् ! कबूतरीपर कबूतरका इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कबूतर बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर उसकी कामना पूर्ण करता; वह कबूतरी भी अपने कामुक पतिकी कामनाएँ पूर्ण करती ॥ ५६ ॥

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते ।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः संनिधौ सती ॥ ५७ ॥

समय आनेपर कबूतरीको पहला गर्भ रहा । उसने अपने पतिके पास ही घोंसलेमें अंडे दिये ॥ ५७ ॥

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥ ५८ ॥

भगवान्की अचिन्त्य शक्तिसे समय आनेपर वे अंडे फूट गये और उनमेंसे हाथ-पैरवाले बच्चे निकल आये । उनका एक-एक अङ्ग और रोएँ अत्यन्त कोमल थे ॥ ५८ ॥

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥ ५९ ॥

अब उन कबूतर-कबूतरीकी आँखें अपने बच्चोंपर लग गयीं, वे बड़े प्रेम और आनन्दसे अपने बच्चोंका लालन-पालन, लाड़-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुटर-गूँ सुन-सुनकर आनन्द-मग्न हो जाते ॥ ५९ ॥

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥ ६० ॥

बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं; वे जब अपने सुकुमार पंखोंसे मा-बापका स्पर्श करते, कूजते, भोली-भाली चेष्टाएँ करते

और फुदक-फुदककर अपने मा-बापके पास दौड़ आते, तब कबूतर-कबूतरी आनन्दमग्न हो जाते ॥ ६० ॥

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः ॥ ६१ ॥

राजन् ! सच पूछो तो वे कबूतर-कबूतरी भगवान्‌की मायासे मोहित हो रहे थे । उनका हृदय एक-दूसरेके स्नेहबन्धनसे बँध रहा था । वे अपने नन्हे-नन्हे बच्चोंके पालन-पोषणमें इतने व्यग्र रहते कि उन्हें दीन-दुनिया, लोक परलोककी याद ही न आती ॥ ६१ ॥

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।
परितः कानने कस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥ ६२ ॥

एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चोंके लिये चारा लाने जंगलमें गये हुए थे । क्योंकि अब उनका कुटुम्ब बहुत बढ़ गया था । वे चारेके लिये चिरकालतक जंगलमें चारों ओर विचरते रहे ॥ ६२ ॥

दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद् यदृच्छातो वनेचरः ।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥ ६३ ॥

इधर एक बहेलिया घूमता-घूमता संयोगवश उनके घोंसलेकी ओर आ निकला । उसने देखा कि घोंसलेके आस-पास कबूतरके बच्चे फुदक रहे हैं; उसने जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया ॥ ६३ ॥

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे[1] सदोत्सुकौ ।
गतौ[2] पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥ ६४ ॥

१. प्रजापोषणसोत्सुकौ । २. प्रजापोषण० ।

कबूतर-कबूतरी बच्चोंको खिलाने-पिलानेके लिये हर
उत्सुक रहा करते थे। अब वे चारा लेकर अपने घोंसलेके
आये ॥ ६४ ॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥ ६५

कबूतरीने देखा कि उसके नन्हे-नन्हे बच्चे, उसके हृ
टुकड़े जालमें फँसे हुए हैं और दुःखसे चें-चें कर रहे हैं।
ऐसी स्थितिमें देखकर कबूतरीके दुःखकी सीमा न रही। वह
चिल्लाती उनके पास दौड़ गयी ॥ ६५ ॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥ ६६

भगवान्‌की मायासे उसका चित्त अत्यन्त दीन-दुखी हो
था। वह उमड़ते हुए स्नेहकी रस्सीसे जकड़ी हुई थी;
बच्चोंको जालमें फँसा देखकर उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध
रही और वह स्वयं ही जाकर जालमें फँस गयी ॥ ६६ ॥

कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्यां चात्मसमां दीनो[1] विललापातिदुःखितः ॥ ६७

जब कबूतरने देखा कि मेरे प्राणोंसे भी प्यारे बच्चे जा
फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दशामें पहुँच गयी;
वह अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगा। सचमुच उस स
उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी ॥ ६७ ॥

1. दीनाम्।

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥ ६८ ॥

'मैं अभागा हूँ, दुर्मति हूँ । हाय, हाय ! मेरा तो सत्यानाश हो गया । देखो, देखो न मुझे अभी तृप्ति हुई और न मेरी आशाएँ ही पूरी हुईं । तबतक मेरा धर्म, अर्थ और कामका मूल यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया ॥ ६८ ॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ।
शून्ये गृहे मां संत्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥ ६९ ॥

हाय ! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अपना इष्टदेव समझती थी, मेरी एक-एक बात मानती थी, मेरे इशारेपर नाचती थी, सब तरहसे मेरे योग्य थी । आज वह मुझे सूने घरमें छोड़कर हमारे सीधे-सादे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है ॥ ६९ ॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥ ७० ॥

मेरे बच्चे मर गये । मेरी पत्नी जाती रही । मेरा अब संसारमें क्या काम है ? मुझ दीनका यह विधुरजीवन—बिना गृहिणीका जीवन जलनका—व्यथाका जीवन है । अब मैं इस सूने घरमें किसके लिये जीऊँ ?' ॥ ७० ॥

तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः ।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥ ७१ ॥

राजन् ! कबूतरके बच्चे जालमें फँसकर तड़फड़ा रहे थे । स्पष्ट दीख रहा था कि वे मौतके पंजेमें हैं, परन्तु वह मूर्ख कबूतर

यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा था कि स्वयं जान-बूझकर जालमें कूद पड़ा ॥ ७१ ॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ।
कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥ ७२॥

राजन् ! वह बहेलिया बड़ा क्रूर था । गृहस्थाश्रमी कबूतर कबूतरी और उनके बच्चोंके मिल जानेसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई; उसने समझा मेरा काम बन गया और वह उन्हें लेकर चलता बना ॥ ७२ ॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् ।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥ ७३॥

जो कुटुम्बी है, विषयों और लोगोंके सङ्ग-साथमें ही जिसे सुख मिलता है एवं अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती । वह उसी कबूतरके समान अपने कुटुम्बके साथ कष्ट पाता है ॥ ७३ ॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥ ७४॥

यह मनुष्य-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है । इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमें ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचेतक चढ़कर गिर रहा है । शास्त्रकी भाषामें वह 'आरूढ-च्युत' है ॥ ७४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—अजगरसे लेकर पिङ्गलातक नौ गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥ १ ॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन् ! प्राणियोंको जैसे बिना इच्छाके, बिना किसी प्रयत्नके रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्गमें या नरकमें—कहीं भी रहें, उन्हें इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं। इसलिये सुख और दुःखका रहस्य जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकारका प्रयत्न न करे ॥१॥

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥

बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाय—वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा—बुद्धिमान् पुरुष अजगरके समान उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह कर ले और उदासीन रहे ॥ २ ॥

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

यदि भोजन न मिले तो उसे भी प्रारब्ध-भोग समझकर कि
प्रकारकी चेष्टा न करे, बहुत दिनोंतक भूखा ही पड़ा रहे। उ
चाहिये कि अजगरके समान केवल प्रारब्धके अनुसार प्राप्त
भोजनमें ही सन्तुष्ट रहे ॥ ३ ॥

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम् ।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४

उसके शरीरमें मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल—तीनों हों त
भी वह निश्चेष्ट ही रहे । निद्रारहित होनेपर भी सोया हुआ
रहे और कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी उनसे कोई चेष्टा न करे । राजन
मैंने अजगरसे यही शिक्षा ग्रहण की है ॥ ४ ॥

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५

समुद्रसे मैंने यह सीखा है कि साधकको सर्वदा प्रसन्न औ
गम्भीर रहना चाहिये, उसका भाव अथाह, अपार और असी
होना चाहिये तथा किसी भी निमित्तसे उसे क्षोभ नहीं होना चाहिये
उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तरङ्गों
रहित शान्त समुद्र ॥ ५ ॥

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः ।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥ ६

देखो, समुद्र वर्षाऋतुमें नदियोंकी बाढ़के कारण बढ़ता नह
और न ग्रीष्म-ऋतुमें घटता ही है वैसे ही भगवत्परायण साधकको

भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उनके घटनेसे उदास ही होना चाहिये ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७ ॥

राजन् ! मैंने पतिंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की है जैसे वह रूपपर मोहित होकर आगमें कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला पुरुष जब स्त्रीको देखता है तो उसके हाव-भावपर लट्टू हो जाता है और घोर अन्धकारमें, नरकमें गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है । सचमुच स्त्री देवताओंकी वह माया है, जिससे जीव भगवान् या मोक्षकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है ॥ ७ ॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥

जो मूढ़ कामिनी-कञ्चन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थोंमें फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोगके लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेक-बुद्धि खोकर पतिंगेके समान नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥ ९ ॥

राजन् ! संन्यासीको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका

कष्ट न देकर भौंरेकी तरह अपना जीवन-निर्वाह करे। वह अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले* ॥ ९ ॥

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ १० ॥

जिस प्रकार भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे—चाहे वे छोटे हों या बड़े—उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार—उनका रस निचोड़ ले ॥ १० ॥

सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम् ।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न संग्रही ॥ ११ ॥

राजन्! मैंने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सायङ्काल अथवा दूसरे दिनके लिये भिक्षाका संग्रह न करना चाहिये। उसके पास भिक्षा लेनेको कोई पात्र हो तो केवल हाथ और रखनेके लिये कोई बर्तन हो तो पेट। वह कहीं संग्रह न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियोंके समान उसका जीवन ही दूभर हो जायगा ॥ ११ ॥

सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः ।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥ १२ ॥

---

* नहीं तो एक ही कमलके गन्धमें आसक्त हुआ भ्रमर जैसे रात्रिके समय उसमें बंद हो जानेसे नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वादवासनासे एक ही गृहस्थका अन्न खानेसे उसके सांसर्गिक मोहमें फँसकर यति भी नष्ट हो जायगा।

यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि संन्यासी सबेरे-शामके लिये किसी प्रकारका संग्रह न करे; यदि संग्रह करेगा, तो मधुमक्खियोंके समान अपने संग्रहके साथ ही जीवन भी गँवा बैठेगा ॥ १२ ॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि ।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥ १३ ॥

राजन् ! मैंने हाथीसे यह सीखा कि संन्यासीको कभी पैरसे भी काठकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करना चाहिये । यदि वह ऐसा करेगा तो जैसे हथिनीके अङ्ग-सङ्गसे हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायगा* ॥ १३ ॥

नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥ १४ ॥

विवेकी पुरुष किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्यरूपसे स्वीकार न करे; क्योंकि यह उसकी मूर्तिमती मृत्यु है । यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे हाथीकी तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा ॥ १४ ॥

न¹ देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसंचितम् ।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥ १५ ॥

* हाथी पकड़नेवाले तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेपर कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं । उसे देखकर हाथी वहाँ आता है और गड्ढेमें गिरकर फँस जाता है ।

१. नो ।

मैंने मधु निकालनेवाले पुरुषसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संसारके लोभी पुरुष बड़ी कठिनाईसे धनका सञ्चय तो करते रहते हैं, किन्तु वह सञ्चित धन न किसीको दान करते हैं और न स्वयं उसका उपभोग ही करते हैं। बस, जैसे मधु निकालनेवाला मधुमक्खियोंद्वारा सञ्चित रसको निकाल ले जाता है, वैसे ही उनके सञ्चित धनको भी उसकी टोह रखनेवाला कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है ॥ १५ ॥

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

तुम देखते हो न कि मधुहारी मधुमक्खियोंका जोड़ा हुआ मधु उनके खानेसे पहले ही साफ कर जाता है; वैसे ही गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे सञ्चित किये पदार्थोंको, जिनसे वे सुखभोगकी अभिलाषा रखते हैं, उनसे भी पहले संन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं। क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करेगा ॥ १६ ॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥ १७ ॥

मैंने हरिनसे यह सीखा है कि वनवासी संन्यासीको कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये। वह इस बातकी शिक्षा उस हरिनसे ग्रहण करे, जो व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है ॥ १७ ॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम् ।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥ १८ ॥

तुम्हें इस बातका पता है कि हरिनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृङ्ग मुनि स्त्रियोंका विषय-सम्बन्धी गाना-बजाना, नाचना आदि देख-सुनकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे ॥ १८ ॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ १९ ॥

अब मैं तुम्हें मछलीकी सीख सुनाता हूँ। जैसे मछली काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपनी मनको मथकर व्याकुल कर देनेवाली जिह्वाके वशमें हो जाता है और मारा जाता है ॥१९॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥ २० ॥

विवेकी पुरुष भोजन बंद करके दूसरी इन्द्रियोंपर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसना-इन्द्रिय वशमें नहीं होती। वह तो भोजन बंद कर देनेसे और भी प्रबल हो जाती है ॥ २० ॥

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ २१ ॥

मनुष्य और सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता। और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं ॥ २१ ॥

पिङ्गला नाम वेश्याऽऽसीद् विदेहनगरे पुरा ।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥ २२ ॥

नृपनन्दन ! प्राचीन कालकी बात है कि विदेहनगरी मिथिलामें एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिङ्गला। मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सावधान होकर सुनो ॥ २२ ॥

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं संकेत उपनेष्यती ।
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २३ ॥

वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपवती भी थी। एक दिन रात्रिके समय किसी पुरुषको अपने रमण-स्थानमें लानेके लिये खूब बन-ठनकर उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजकर बहुत देरतक अपने घरके बाहरी दरवाजेपर खड़ी रही ॥ २३ ॥

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ ।
ताञ्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका ॥ २४ ॥

नररत्न ! उसे पुरुषकी नहीं, धनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी दृढ़मूल हो गयी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचती थी कि यह कोई धनी है और मुझे धन देकर उपभोग करनेके लिये ही आ रहा है ॥ २४ ॥

आगतेष्वपयातेषु सा संकेतोपजीविनी ।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥ २५ ॥

जब आने-जानेवाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह संकेत-जीविनी वेश्या यही सोचती कि अवश्य ही अबकी बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आवेगा जो मुझे बहुत-सा धन देगा ॥ २५ ॥

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती[1] ।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं[2] समपद्यत ॥ २६ ॥

उसके चित्तकी यह दुराशा बढ़ती ही जाती थी । वह दरवाजे-पर बहुत देरतक टँगी रही । उसकी नींद भी जाती रही । वह कभी बाहर आती, तो कभी भीतर जाती । इस प्रकार आधी रात हो गयी ॥ २६ ॥

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ॥ २७ ॥

राजन् ! सचमुच आशा और सो भी धनकी—बहुत बुरी है । धनीकी बाट जोहते-जोहते उसका मुँह सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया । अब उसे इस वृत्तिसे बड़ा वैराग्य हुआ । उसमें दुःख-बुद्धि हो गयी । इसमें सन्देह नहीं कि इस वैराग्यका कारण चिन्ता ही थी । परन्तु ऐसा वैराग्य भी है तो सुखका ही हेतु ॥२७॥

तस्या[3] निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥ २८ ॥

जब पिङ्गलाके चित्तमें इस प्रकार वैराग्यकी भावना जाग्रत् हुई तब उसने एक गीत गाया । वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ । राजन् ! मनुष्य आशाकी फाँसीपर लटक रहा है । इसको तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य है ॥ २८ ॥

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ।
यथा[4] विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥ २९ ॥

१. लम्बिनी । २. निशीथः । ३. तथा । ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

प्रिय राजन् ! जिसे वैराग्य नहीं हुआ है, जो इन बखेड़ोंसे ऊबा नहीं है, वह शरीर और इसके बन्धनसे उसी प्रकार मुक्त नहीं होना चाहता, जैसे अज्ञानी पुरुष ममता छोड़नेकी इच्छा भी नहीं करता ॥ २९ ॥

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा ॥ ३० ॥

पिङ्गलाने यह गीत गाया था—हाय ! हाय ! मैं इन्द्रियोंके अधीन हो गयी । भला मेरे मोहका विस्तार तो देखो, मैं इन दुष्ट पुरुषोंसे, जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, विषयसुखकी लालसा करती हूँ । कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ ॥ ३० ॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥ ३१ ॥

देखो तो सही, मेरे निकट-से-निकट हृदयमें ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं । वे वास्तविक प्रेम-सुख और परमार्थका सच्चा धन भी देनेवाले हैं । जगत्‌के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं । हाय ! हाय ! मैंने उनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्योंका सेवन किया, जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते, उलटे दुःख-भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं । यह मेरी मूर्खताकी हद है कि मैं उनका सेवन करती हूँ ॥ ३१ ॥

अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥ ३२ ॥

बड़े खेदकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्या-वृत्तिका आश्रय लिया और व्यर्थमें अपने शरीर और मनको क्लेश दिया—पीड़ा पहुँचायी ! मेरा यह शरीर बिक गया है । लम्पट, लोभी और निन्दनीय मनुष्योंने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रति-सुख चाहती हूँ । मुझे धिक्कार है ! ॥ ३२ ॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥ ३३ ॥

यह शरीर एक घर है । इसमें हड्डियोंके टेढ़े-तिरछे बाँस और खंभे लगे हुए हैं; चाम, रोएँ और नाखूनोंसे यह छाया गया है । इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते ही रहते हैं । इसमें सञ्चित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र है । मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है, जो इस स्थूलशरीरको अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी ॥ ३३ ॥

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात् ॥ ३४ ॥

यों तो यह विदेहोंकी—जीवन्मुक्तोंकी नगरी है, परन्तु इसमें

मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ; क्योंकि अकेली मैं ही तो आत्म-दानी, अविनाशी एवं परम प्रियतम परमात्माको छोड़कर दूसरे पुरुषकी अभिलाषा करती हूँ ॥ ३४ ॥

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥ ३५ ॥

मेरे हृदयमें विराजमान प्रभु, समस्त प्राणियोंके हितैषी, सुहृद, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब मैं अपने आपको देकर इन्हें खरीद लूँगी और इनके साथ वैसे ही विहार करूँगी, जैसे लक्ष्मीजी करती हैं ॥ ३५ ॥

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः ।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥ ३६ ॥

मेरे मूर्ख चित्त ! तू बतला तो सही, जगत्के विषयभोगोंने और उनको देनेवाले पुरुषोंने तुझे कितना सुख दिया है। अरे ! वे तो स्वयं ही पैदा होते और मरते रहते हैं। मैं केवल अपनी ही बात नहीं कहती, केवल मनुष्योंकी भी नहीं; क्या देवताओंने भी भोगोंके द्वारा अपनी पत्नियोंको सन्तुष्ट किया है ? वे बेचारे तो स्वयं कालके गालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं ॥ ३६ ॥

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥ ३७ ॥

अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्मसे विष्णु भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो दुराशासे मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। अवश्य ही मेरा यह वैराग्य सुख देनेवाला होगा ॥ ३७ ॥

मैवं स्युर्मन्दभाग्याया: क्लेशा निर्वेदहेतव: ।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुष: शममृच्छति ॥ ३८ ॥

यदि मैं मन्दभागिनी होती तो मुझे ऐसे दुःख ही न उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है । मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही घर आदिके सब बन्धनोंको काटकर शान्तिलाभ करता है ॥ ३८ ॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गता: ।
त्यक्त्वा दुराशा: शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥ ३९ ॥

अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ ॥ ३९ ॥

संतुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥ ४० ॥

अब मुझे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी । मैं अब किसी दूसरे पुरुषकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर, आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी ॥ ४० ॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।
ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वर: ॥ ४१ ॥

यह जीव संसारके कूएँमें गिरा हुआ है । विषयोंने इसे अंधा बना दिया है, कालरूपी अजगरने इसे मुँहमें दबा रक्खा है । अब भगवान्को छोड़कर इसकी रक्षा करनेमें दूसरा कौन समर्थ है ॥ ४१ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ।
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥ ४२ ॥

जिस समय जीव समस्त विषयोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है । इसलिये बड़ी सावधानीके साथ यह देखते रहना चाहिये कि सारा जगत् कालरूपी अजगरसे ग्रस्त है ॥ ४२ ॥

[1]ब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥ ४३ ॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन् ! पिङ्गला वेश्याने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियोंकी दुराशा, उनसे मिलनेकी लालसा-का परित्याग कर दिया और शान्तभावसे जाकर वह अपनी सेजपर सो रही ॥ ४३ ॥

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥ ४४ ॥

सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिङ्गला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादश-स्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

अथ नवमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान–कुररसे लेकर भृंगीतक सात गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिंचनः ॥ १ ॥

अवधूत दत्तात्रेयजीने कहा—राजन् ! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दुःखका कारण है । जो बुद्धिमान् पुरुष यह बात समझकर अकिञ्चन भावसे रहता है—शरीरकी तो बात ही अलग, मनसे भी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता—उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

एक कुरर पक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये हुए था । उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीननेके लिये उसे घेरकर चोंचें मारने लगे । जब कुरर पक्षीने अपनी चोंचसे मांसका टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला ॥ २ ॥

न मे मानावमानौ[1] स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह[2] बालवत् ॥ ३ ॥

१. मानापमानौ । २. आत्मरतो विचरामि ।

मुझे मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवारवालोंको जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मामें ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीडा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली है। अतः उसीके समान मैं भी मौजसे रहता हूँ ॥ ३ ॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४ ॥

इस जगत्में दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमें मग्न रहते हैं—एक तो भोलाभाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो ॥ ४ ॥

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान् ।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

एक बार किसी कुमारी कन्याके घर उसे वरण करनेके लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन उसके घरके लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसने स्वयं ही उनका आतिथ्यसत्कार किया ॥ ५ ॥

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव ।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

राजन्! उनको भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पड़ी शंखकी चूड़ियाँ जोर-जोरसे बज रही थीं ॥ ६ ॥

सा तज्जुगुप्सितं[1] मत्वा महती व्रीडिता ततः ।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

---
१. तम्।

इसशब्दको निन्दित समझकर कुमारीको बड़ी लज्जा माॡम हुई* और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं ॥ ७ ॥

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स शङ्खयोः ।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः ॥ ८ ॥

अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयोंमें केवल एक-एक चूड़ी रह गयी, तब किसी प्रकारकी आवाज नहीं हुई ॥ ८ ॥

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।
लोकाननुचरन्नेतान् लोकतत्त्वविवित्सया ॥ ९ ॥
वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥ १० ॥

रिपुदमन ! उस समय लोगोंका आचार-विचार निरखने-परखनेके लिये इधर-उधर घूमता-घामता मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं, तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत तो होती ही है; इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान अकेले ही विचरना चाहिये ॥ ९-१० ॥

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥ ११ ॥

* क्योंकि उससे उसका स्वयं धान कूटना सूचित होता था, जो कि उसकी दरिद्रताका द्योतक था।

राजन् ! मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर ले और फिर बड़ी सावधानीके साथ उसे एक लक्ष्यमें लगा दे ॥ ११ ॥

यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥ १२ ॥

जब परमानन्दस्वरूप परमात्मामें मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओंकी धूलको धो बहाता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिसे रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंका त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधनके बिना अग्नि ॥ १२ ॥

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किंचिद् बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥ १३ ॥

इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मामें ही स्थिर—निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पता तक न चला ॥ १३ ॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥ १४ ॥

राजन् ! मैंने साँपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये । मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये । वह एक स्थानमें न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय । किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले ॥ १४ ॥

गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १५ ॥

इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखकी जड़ है । साँप दूसरोंके बनाये घरमें घुसकर बड़े आरामसे अपना समय काटता है ॥ १५ ॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥ १६ ॥
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः[1] ॥ १७ ॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥ १८ ॥
केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिंदम ॥ १९ ॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं[2] सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥ २० ॥

---

१. प्रधानः पुरुषेश्वरः । २. गुणां व्यक्तिम् ।

अब मकड़ीसे ली हुई शिक्षा सुनो। सबके प्रकाशक और अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी ही मायासे रचे हुए जगत्‌को कल्पके अन्तमें (प्रलयकाल उपस्थित होनेपर) कालशक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया—उसे अपनेमें लीन कर लिया और सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदसे शून्य अकेले ही शेष रह गये। वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं; परन्तु स्वयं अपने आश्रय—अपने ही आधारसे रहते हैं, उनका कोई दूसरा आधार नहीं है। वे प्रकृति और पुरुष दोनोंके नियामक, कार्य और कारणात्मक जगत्‌के आदिकारण परमात्मा अपनी शक्ति कालके प्रभावसे सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियोंको साम्यावस्थामें पहुँचा देते हैं और स्वयं कैवल्यरूपसे एक और अद्वितीयरूप विराजमान रहते हैं। वे केवल अनुभवस्वरूप और आनन्दघनमात्र हैं। किसी भी प्रकारकी उपाधिका उनसे सम्बन्ध नहीं है। वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति कालके द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करते हैं और उससे पहले क्रियाशक्ति-प्रधान सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। यह सूत्ररूप महत्तत्त्व ही तीनों गुणोंकी पहली अभिव्यक्ति है, वही सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण है। उसीमें यह सारा विश्व, सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत है और इसीके कारण जीवको जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना पड़ता है॥ १९–२०॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां संतत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ २१॥

जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे विहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥ २१ ॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥ २२ ॥

राजन् ! मैंने भृङ्गी (बिलनी) कीड़ेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः ।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन् ॥ २३ ॥

राजन् ! जैसे भृङ्गी एक कीड़ेको ले जाकर दीवारपर अपने रहनेकी जगह बंद कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है* ॥ २३ ॥

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः ।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥ २४ ॥

---

१. मपि त्यजन् ।

* जब उसी शरीरसे चिन्तन किये रूपकी प्राप्ति हो जाती है, तब दूसरे शरीरसे तो कहना ही क्या है ? इसलिये मनुष्यको अन्य वस्तुका चिन्तन न करके केवल परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये ।

राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बताता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ २४ ॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
बिंभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥ २५ ॥

यह शरीर भी मेरा गुरु ही है; क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्यकी शिक्षा देता है। मरना और जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। इस शरीरको पकड़ रखनेका फल यह है कि दुःख-पर-दुःख भोगते जाओ। यद्यपि इस शरीरसे तत्त्वविचार करनेमें सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता; सर्वदा यही निश्चय रखता हूँ कि एक दिन इसे सियार-कुत्ते खा जायँगे। इसीलिये मैं इससे असङ्ग होकर विचरता हूँ ॥ २५ ॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥ २६ ॥

जीव जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओंका विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषणमें लगा रहता है। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहकर धन सञ्चय

करता है। आयुष्य पूरी होनेपर वही शरीर स्वयं तो नष्ट होता ही है, वृक्षके समान दूसरे शरीरके लिये बीज बोकर उसके लिये भी दुःखकी व्यवस्था कर जाता है ॥ २६ ॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ २७ ॥

जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं वैसे ही जीवको जीभ एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर; जननेन्द्रिय एक ओर—स्त्रीसंभोगकी ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं। नाक कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है तो चञ्चल नेत्र कहीं दूसरी ओर—सुन्दर रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही इसे सताती रहती हैं ॥ २७ ॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्[1]।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥ २८ ॥

वैसे तो भगवान्ने अपनी अचिन्त्य शक्ति मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु) पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि

१. खगदन्दशूकान्।

अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्य-शरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए ॥ २८ ॥

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ २९ ॥

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो अनित्य ही—मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। परन्तु इससे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है; इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्युके पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये ॥ २९ ॥

एवं संजातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहंकृतिः ॥ ३० ॥

राजन्! यही सब सोच-विचारकर मुझे जगत्से वैराग्य हो गया। मेरे हृदयमें ज्ञान-विज्ञानकी ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहङ्कार ही। अब मैं स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीमें विचरण करता हूँ ॥ ३० ॥

---

१. मृत्युयोगात्। २. नहंकृतः।

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं[1] स्यात् सुपुष्कलम् ।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥३१॥

राजन् ! अकेले गुरुसे ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धिसे भी बहुत-कुछ सोचने-समझनेकी आवश्यकता है। देखो, ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेकों प्रकारसे गान किया है। (यदि तुम स्वयं विचारकर निर्णय न करोगे, तो ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको कैसे जान सकोगे ?) ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ॥३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव ! गम्भीर-बुद्धि अवधूत दत्तात्रेयने राजा यदुको इस प्रकार उपदेश किया। यदुने उनकी पूजा और वन्दना की, दत्तात्रेयजी उनसे अनुमति लेकर बड़ी प्रसन्नतासे इच्छानुसार पधार गये ॥ ३२ ॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥३३॥

हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेयकी यह बात सुनकर समस्त आसक्तियोंसे छुटकारा पा गये और समदर्शी हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये)॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

१. सुस्थितम्।

अथ दशमोऽध्यायः

लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंकी असारताका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव ! साधकको चाहिये कि सब तरहसे मेरी शरणमें रहकर (गीता, पाञ्चरात्र आदिमें) मेरे द्वारा उपदिष्ट अपने धर्मोंका सावधानीसे पालन करे । साथ ही जहाँतक उनसे विरोध न हो वहाँतक निष्कामभावसे अपने वर्ण, आश्रम और कुलके अनुसार सदाचारका भी अनुष्ठान करे ॥ १ ॥

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २ ॥

निष्काम होनेका उपाय यह है कि स्वधर्मोंका पालन करनेसे शुद्ध हुए अपने चित्तमें यह विचार करे कि जगत्के विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंको सत्य समझकर उनकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करते हैं, उसमें उनका उद्देश्य तो यह होता है कि सुख मिले; परन्तु मिलता है दुःख ॥ २ ॥

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद् विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥

इसके सम्बन्धमें ऐसा विचार करना चाहिये कि स्वप्न-अवस्थामें और मनोरथ करते समय जाग्रत्-अवस्थामें भी मनुष्य मन-ही-मन

अनेकों प्रकारके विषयोंका अनुभव करता है, परन्तु उसकी वह सारी कल्पना वस्तुशून्य होनेके कारण व्यर्थ है। वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली भेदबुद्धि भी व्यर्थ ही है, क्योंकि यह भी इन्द्रियजन्य और नाना वस्तुविषयक होनेके कारण पूर्ववत् असत्य ही है ॥ ३ ॥

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥ ४ ॥

जो पुरुष मेरी शरणमें है, उसे अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम अथवा नित्यकर्म ही करने चाहिये। उन कर्मोंका बिल्कुल परित्याग कर देना चाहिये, जो बहिर्मुख बनानेवाले अथवा सकाम हों। जब आत्मज्ञानकी उत्कट इच्छा जाग उठे, तब तो कर्मसम्बन्धी विधि-विधानोंका भी आदर नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥

अहिंसा आदि यमोंका तो आदरपूर्वक सेवन करना चाहिये, परन्तु शौच (पवित्रता) आदि नियमोंका पालन शक्तिके अनुसार और आत्मज्ञानके विरोधी न होनेपर ही करना चाहिये। जिज्ञासु पुरुषके लिये यम और नियमोंके पालनसे भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरुकी, जो मेरे स्वरूपको जाननेवाले और शान्त हों, मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करे ॥ ५ ॥

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

शिष्यको अभिमान न करना चाहिये। वह कभी किसीसे डाह न करे—किसीका बुरा न सोचे। वह प्रत्येक कार्यमें कुशल हो—उसे आलस्य छू न जाय। उसे कहीं भी ममता न हो, गुरुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग हो। कोई काम हड़बड़ाकर न करे—उसे सावधानीसे पूरा करे। सदा परमार्थके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा बनाये रक्खे। किसीके गुणोंमें दोष न निकाले और व्यर्थकी बात न करे॥ ६॥

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः॥ ७॥

जिज्ञासुका परम धन है आत्मा; इसलिये वह स्त्री-पुत्र, घर-खेत, स्वजन और धन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक सम आत्माको देखे और किसीमें कुछ विशेषताका आरोप करके उससे ममता न करे, उदासीन रहे॥ ७॥

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षितास्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥ ८॥

उद्धव! जैसे जलनेवाली लकड़ीसे उसे जलाने और प्रकाशित करनेवाली आग सर्वथा अलग है। ठीक वैसे ही विचार करनेपर जान पड़ता है कि पञ्चभूतोंका बना स्थूलशरीर और मन-बुद्धि आदि सत्रह तत्त्वोंका बना सूक्ष्मशरीर दोनों ही दृश्य और जड हैं। तथा उनको जानने और प्रकाशित करनेवाला आत्मा साक्षी एवं स्वयं प्रकाश है। शरीर अनित्य, अनेक एवं जड हैं। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है। इस प्रकार देहकी अपेक्षा आत्मामें महान् विलक्षणता है। अतएव देहसे आत्मा भिन्न है॥८॥

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान् ।
अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान् परः ॥ ९ ॥

जब आग लकड़ीमें प्रज्वलित होती है, तब लकड़ीके उत्पत्ति-विनाश, बड़ाई-छोटाई और अनेकता आदि सभी गुण वह स्वयं ग्रहण कर लेती है। परन्तु सच पूछो, तो लकड़ीके उन गुणोंसे आगका कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही जब आत्मा अपनेको शरीर मान लेता है, तब वह देहके जडता, अनित्यता, स्थूलता, अनेकता आदि गुणोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी उनसे युक्त जान पड़ता है ॥ ९ ॥

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः ॥ १० ॥

ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित मायाके गुणोंने ही सूक्ष्म और स्थूल शरीरका निर्माण किया है। जीवको शरीर और शरीरको जीव समझ लेनेके कारण ही स्थूलशरीरके जन्म-मरण और सूक्ष्म-शरीरके आवागमनका आत्मापर आरोप किया जाता है। जीवको जन्म-मृत्युरूप संसार इसी भ्रम अथवा अध्यासके कारण प्राप्त होता है। आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेपर उसकी जड़ कट जाती है ॥१०॥

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥ ११ ॥

प्यारे उद्धव ! इस जन्म-मृत्युरूप संसारका कोई दूसरा कारण नहीं, केवल अज्ञान ही मूल कारण है। इसलिये अपने वास्तविक स्वरूपको, आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से अतीत, द्वैतकी गन्धसे रहित एवं अपने आपमें ही स्थित है। उसका और कोई

आधार नहीं है। उसे जानकर धीरे-धीरे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर आदिमें जो सत्यत्वबुद्धि हो रही है, उसे क्रमशः मिटा देना चाहिये ॥ ११ ॥

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
तत्संधानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥ १२ ॥

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
र्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम् ।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्
स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः ॥ १३ ॥

(यज्ञमें जब अरणिमन्थन करके अग्नि उत्पन्न करते हैं, तो उसमें नीचे-ऊपर दो लकड़ियाँ रहती हैं और बीचमें मन्थनकाष्ठ रहता है; वैसे ही) विद्यारूप अग्निकी उत्पत्तिके लिये आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपरकी अरणियाँ हैं तथा उपदेश मन्थनकाष्ठ है। इनसे जो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है, वह विलक्षण सुख देनेवाली है। इस यज्ञमें बुद्धिमान् शिष्य सद्गुरुके द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है, वह गुणोंसे बनी हुई विषयोंकी मायाको भस्म कर देता है। तत्पश्चात् वे गुण भी भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि यह संसार बना हुआ है। इस प्रकार सबके भस्म हो जानेपर जब आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी ठीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूपमें शान्त हो जाती है, जैसे समिधा न रहनेपर आग बुझ जाती है* ॥ १२-१३ ॥

* यहाँतक यह बात स्पष्ट हो गयी कि स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप नित्य

अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥ १४ ॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥ १५ ॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥ १६ ॥
अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥ १७ ॥

प्यारे उद्धव! यदि तुम कदाचित् कर्मोंके कर्ता और सुख-दुःखों-के भोक्ता जीवोंको अनेक तथा जगत्, काल, वेद और आत्माओं-को नित्य मानते हो; साथ ही समस्त पदार्थोंकी स्थिति-प्रवाहसे नित्य और यथार्थ स्वीकार करते हो तथा यह समझते हो कि घट-पट आदि बाह्य आकृतियोंके भेदसे उनके अनुसार ज्ञान ही उत्पन्न होता और बदलता रहता है; तो ऐसे मतके माननेसे बड़ा अनर्थ हो जायगा। (क्योंकि इस प्रकार जगत्के कर्ता आत्माकी नित्य सत्ता और जन्म-मृत्युके चक्करसे मुक्ति भी सिद्ध न हो सकेगी।) यदि कदाचित् ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाय तो देह और संवत्सरादि कालावयवोंके सम्बन्धसे होनेवाली जीवोंकी जन्म-मरण आदि अवस्थाएँ भी नित्य होनेके कारण दूर न हो सकेंगी; क्योंकि तुम देहादि

एक ही आत्मा है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म देहके कारण हैं। आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है, सब अनित्य और मायामय है; इसलिये आत्मज्ञान होते ही समस्त विपत्तियोंसे मुक्ति मिल जाती है।

पदार्थ और कालकी नित्यता स्वीकार करते हो। इसके सिवा, यहाँ भी कर्मोंका कर्ता तथा सुख-दुःखका भोक्ता जीव परतन्त्र ही दिखायी देता है, यदि वह स्वतन्त्र हो तो दुःखका फल क्यों भोगना चाहेगा? इस प्रकार सुख-भोगकी समस्या सुलझ जानेपर भी दुःख-भोगकी समस्या तो उलझी ही रहेगी। अतः इस मतके अनुसार जीवको कभी मुक्ति या स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकेगी। जब जीव स्वरूपतः परतन्त्र है, विवश है, तब तो स्वार्थ या परमार्थ कोई भी उसका सेवन न करेगा। अर्थात् वह स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे ही वञ्चित रह जायगा॥ १४-१७॥

न देहिनां सुखं किंचिद् विद्यते विदुषामपि।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहंकरणं परम्॥ १८॥

(यदि यह कहा जाय कि जो भलीभाँति कर्म करना जानते हैं, वे सुखी रहते हैं और जो नहीं जानते, उन्हें दुःख भोगना पड़ता है तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि) ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कर्मकुशल विद्वानोंको भी कुछ सुख नहीं मिलता और मूढ़ोंका भी कभी दुःखसे पाला नहीं पड़ता। इसलिये जो लोग अपनी बुद्धि या कर्मसे सुख पानेका घमंड करते हैं, उनका वह अभिमान व्यर्थ है॥ १८॥

यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा॥ १९॥

यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि वे लोग सुखकी प्राप्ति और दुःखके नाशका ठीक-ठीक उपाय जानते हैं, तो भी यह

तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी ऐसे उपायका पता नहीं है, जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके और वे कभी मरें ही नहीं ॥ १९ ॥

को न्वर्थः[1] सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥ २० ॥

जब मृत्यु उनके सिरपर नाच रही है, तब ऐसी कौन-सी भोग-सामग्री या भोग-कामना है, जो उन्हें सुखी कर सके ? भला, जिस मनुष्यको फाँसीपर लटकानेके लिये वधस्थानपर ले जाया जा रहा है, उसे क्या फूल-चन्दन-स्त्री आदि पदार्थ सन्तुष्ट कर सकते हैं ? कदापि नहीं । (अतः पूर्वोक्त मत माननेवालोंकी दृष्टिसे न सुख ही सिद्ध होगा और न जीवका कुछ पुरुषार्थ ही रहेगा) ॥२०॥

श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ २१ ॥

प्यारे उद्धव ! लौकिक सुखके समान पारलौकिक सुख भी दोषयुक्त ही है; क्योंकि वहाँ भी बराबरीवालोंसे होड़ चलती है, अधिक सुख भोगनेवालोंके प्रति असूया होती है—उनके गुणोंमें दोष निकाला जाता है और छोटोंसे घृणा होती है । प्रतिदिन पुण्य क्षीण होनेके साथ ही वहाँके सुख भी क्षयके निकट पहुँचते रहते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं । वहाँकी कामना पूर्ण होनेमें भी यजमान, ऋत्विज और कर्म आदिकी त्रुटियोंके कारण बड़े-बड़े विघ्नोंकी सम्भावना रहती है । जैसे हरी-भरी खेती भी अतिवृष्टि-

---

१. किन्त्वर्थः ।

अनावृष्टि आदिके कारण नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही स्वर्ग भी प्राप्त होते-होते विघ्नोंके कारण नहीं मिल पाता ॥ २१ ॥

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥ २२ ॥

यदि यज्ञ-यागादि धर्म बिना किसी विघ्नके पूरा हो जाय, तो उसके द्वारा जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उनकी प्राप्तिका प्रकार मैं बतलाता हूँ, सुनो ॥ २२ ॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान् ॥ २३ ॥

यज्ञ करनेवाला पुरुष यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गमें जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है ॥ २३ ॥

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥ २४ ॥

उसे उसके पुण्योंके अनुसार एक चमकीला विमान मिलता है और वह उसपर सवार होकर सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है। गन्धर्वगण उसके गुणोंका गान करते हैं और उसके रूप-लावण्यको देखकर दूसरोंका मन लुभा जाता है ॥ २४ ॥

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना ।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥ २५ ॥

उसका विमान वह जहाँ ले जाना चाहता है, वहीं चला जाता है और उसकी घंटियाँ घन-घनाकर दिशाओंको गुंजार करती

१. देवानाम् ।

हैं। वह अप्सराओंके साथ नन्दनवन आदि देवताओंकी विहार-स्थलियोंमें क्रीड़ाएँ करते-करते इतना बेसुध हो जाता है कि उसे इस बातका पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायँगे और मैं यहाँसे ढकेल दिया जाऊँगा ॥ २५ ॥

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥ २६ ॥

जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्गमें चैनकी वंशी बजाता रहता है; परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहनेपर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि कालकी चाल ही ऐसी है ॥ २६ ॥

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥ २७ ॥
पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥ २८ ॥

यदि कोई मनुष्य दुष्टोंकी संगतिमें पड़कर अधर्मपरायण हो जाय, अपनी इन्द्रियोंके वशमें होकर मनमानी करने लगे, लोभवश दाने-दानेमें कृपणता करने लगे, लम्पट हो जाय अथवा प्राणियोंको सताने लगे और विधि-विरुद्ध पशुओंकी बलि देकर भूत और प्रेतोंकी उपासनामें लग जाय, तब तो वह पशुओंसे भी गया-बीता हो जाता है और अवश्य ही नरकमें जाता है। उसे अन्तमें घोर अन्धकार, स्वार्थ और परमार्थसे रहित अज्ञानमें ही भटकना पड़ता है ॥ २७-२८ ॥

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥ २९ ॥

जितने भी सकाम और बहिर्मुख करनेवाले कर्म हैं, उनका फल दुःख ही है। जो जीव शरीरमें अहंता-ममता करके उन्हींमें लग जाता है, उसे बार-बार जन्म-पर-जन्म और मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती रहती है। ऐसी स्थितिमें मृत्युधर्मा जीवको क्या सुख हो सकता है? ॥ २९ ॥

लोकानां लोकपालानां मद् भयं कल्पजीविनाम् ।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः ॥ ३० ॥

सारे लोक और लोकपालोंकी आयु भी केवल एक कल्प है, इसलिये मुझसे भयभीत रहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी कालसे सीमित—केवल दो परार्द्ध है ॥ ३० ॥

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥ ३१ ॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण इन्द्रियोंको उनके कर्मोंमें प्रेरित करते हैं और इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज आदि गुणों और इन्द्रियोंको अपना स्वरूप मान बैठता है और उनके किये हुए कर्मोंका फल सुख-दुःख भोगने लगता है ॥ ३१ ॥

यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥ ३२ ॥

जबतक गुणोंकी विषमता है अर्थात् शरीरादिमें मैं और मेरे-पनका अभिमान है; तभीतक आत्माके एकत्वकी अनुभूति नहीं होती— वह अनेक जान पड़ता है; और जबतक आत्माकी अनेकता

है, तबतक तो उन्हें काल अथवा कर्म किसीके अधीन रहना ही पड़ेगा ॥ ३२ ॥

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥ ३३ ॥

जबतक परतन्त्रता है, तबतक ईश्वरसे भय बना ही रहता है । जो मैं और मेरेपनके भावसे ग्रस्त रहकर आत्माकी अनेकता, परतन्त्रता आदि मानते हैं और वैराग्य न ग्रहण करके बहिर्मुख करनेवाले कर्मोंका ही सेवन करते रहते हैं, उन्हें शोक और मोहकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥ ३४ ॥

प्यारे उद्धव ! जब मायाके गुणोंमें क्षोभ होता है, तब मुझ आत्माको ही काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामोंसे निरूपण करने लगते हैं । (ये सब मायामय हैं । वास्तविक सत्य मैं आत्मा ही हूँ) ॥ ३४ ॥

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो ॥ ३५ ॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! यह जीव देह आदि रूप गुणोंमें ही रह रहा है । फिर देहसे होनेवाले कर्मों या सुख-दुःख आदि रूप फलोंमें क्यों नहीं बँधता है ? अथवा यह आत्मा गुणोंसे निर्लिप्त है, देह आदिके सम्पर्कसे सर्वथा रहित है, फिर इसे बन्धनकी प्राप्ति कैसे होती है ? ॥ ३५ ॥

कथं वर्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।
किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥ ३६

बद्ध अथवा मुक्त पुरुष कैसा बर्ताव करता है, वह कैसे विहार करता है या वह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, कैसे भोजन करता है और मलत्याग आदि कैसे करता है, कैसे सोता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥ ३६ ॥

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः ॥ ३७

अच्युत ! प्रश्नका मर्म जाननेवालोंमें आप श्रेष्ठ हैं । इसलिये आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये—एक ही आत्मा अनादि गुणोंके संसर्गसे नित्य बद्ध भी मालूम पड़ता है और असङ्ग होनेके कारण नित्यमुक्त भी । इस बातको लेकर मुझे भ्रम हो रहा है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे भगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

बद्ध, मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव ! आत्मा बद्ध है या मुक्त है, इस प्रकारकी व्याख्या या व्यवहार मेरे अधीन रहनेवाले सत्त्वादि गुणोंकी उपाधिसे ही होता है। वस्तुतः—तत्त्वदृष्टिसे नहीं। सभी गुण मायामूलक हैं—इन्द्रजाल हैं—जादूके खेलके समान हैं। इसलिये न मेरा मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन ही है॥ १ ॥

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो¹ यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥ २ ॥

जैसे स्वप्न बुद्धिका विवर्त है—उसमें बिना हुए ही भासता है—मिथ्या है, वैसे ही शोक-मोह, सुख-दुःख, शरीरकी उत्पत्ति और मृत्यु—यह सब संसारका बखेड़ा माया (अविद्या) के कारण प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं है ॥ २ ॥

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥

उद्धव ! शरीरधारियोंको मुक्तिका अनुभव करानेवाली आत्मविद्या और बन्धनका अनुभव करानेवाली अविद्या—ये दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं। मेरी मायासे ही इनकी रचना हुई है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है ॥ ३ ॥

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४ ॥

भाई ! तुम तो स्वयं बड़े बुद्धिमान् हो, विचार करो—जीव तो एक ही है। वह व्यवहारके लिये ही मेरे अंशके रूपमें कल्पित

१. स्वप्ने।

हुआ है, वस्तुतः मेरा स्वरूप ही है। आत्मज्ञानसे सम्पन्न होने
उसे मुक्त कहते हैं और आत्माका ज्ञान न होनेसे बद्ध। और य
अज्ञान अनादि होनेसे बन्धन भी अनादि कहलाता है ॥ ४ ॥

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५॥

इस प्रकार मुझ एक ही धर्मीमें रहनेपर भी जो शोक औ
आनन्दरूप विरुद्ध धर्मवाले जान पड़ते हैं, उन बद्ध और मु
जीवका भेद मैं बतलाता हूँ ॥ ५ ॥

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६॥

(वह भेद दो प्रकारका है—एक तो नित्यमुक्त ईश्वरसे
जीवका भेद; और दूसरा मुक्त-बद्ध जीवका भेद। पहला सुनो)—
जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्तके भेदसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही
शरीरमें नियन्ता और नियन्त्रितके रूपसे स्थित हैं। ऐसा समझो कि
शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदयका घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नाम
के दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होनेके कारण समान हैं और कभी
न बिछुड़नेके कारण सखा हैं। इनके निवास करनेका कारण
केवल लीला ही है। इतनी समानता होनेपर भी जीव तो शरीररूप
वृक्षके फल सुख-दुःख आदि भोगता है, परन्तु ईश्वर उन्हें न भोगकर
कर्मफल सुख-दुःख आदिसे असङ्ग और उनका साक्षीमात्र रहता है।

अभोक्ता होनेपर भी ईश्वरकी यह विलक्षणता है कि वह ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदिमें भोक्ता जीवसे बढ़कर है ॥ ६ ॥

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

साथ ही एक यह भी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और इसके अतिरिक्त जगत्‌को भी जानता है, परन्तु भोक्ता जीव न अपने वास्तविक रूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्तको। इन दोनोंमें जीव तो अविद्यासे युक्त होनेके कारण नित्यबद्ध है और ईश्वर विद्यास्वरूप होनेके कारण नित्यमुक्त है ॥ ७ ॥

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा ॥ ८ ॥

प्यारे उद्धव! ज्ञानसम्पन्न पुरुष भी मुक्त ही है; जैसे स्वप्न टूट जानेपर जगा हुआ पुरुष स्वप्नके स्मर्यमाण शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें रहनेपर भी उनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु अज्ञानी पुरुष वास्तवमें शरीरसे कोई सम्बन्ध न रखनेपर भी अज्ञानके कारण शरीरमें ही स्थित रहता है; जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न देखते समय स्वाप्निक शरीरमें बँध जाता है ॥ ८ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥

व्यवहारादिमें इन्द्रियाँ शब्द-स्पर्शादि विषयोंको ग्रहण करती हैं; क्योंकि यह तो नियम ही है कि गुण ही गुणको ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं। इसलिये जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूपको समझ लिया है, वह उन विषयोंके ग्रहण-त्यागमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं करता ॥ ९ ॥

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्धयते ॥ १० ॥

यह शरीर प्रारब्धके अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं, सब गुणोंकी प्रेरणासे ही होते हैं। अज्ञानी पुरुष झूठ-मूठ अपनेको उन ग्रहण-त्याग आदि कर्मोंका कर्ता मान बैठता है और इसी अभिमानके कारण वह बँध जाता है ॥ १० ॥

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥ ११ ॥
न तथा बद्धयते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान्।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ॥ १२ ॥
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते ॥ १३ ॥

प्यारे उद्धव! पूर्वोक्त पद्धतिसे विचार करके विवेकी पुरुष समस्त विषयोंसे विरक्त रहता है और सोने-बैठने, घूमने-फिरने, नहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने और सुनने आदि क्रियाओंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता, बल्कि गुणोंको ही कर्ता मानता है। गुण ही सभी कर्मोंके कर्ता-भोक्ता हैं—ऐसा जानकर विद्वान्

पुरुष कर्मवासना और फलोंसे नहीं बँधते। वे प्रकृतिमें रहकर भी वैसे ही असङ्ग रहते हैं, जैसे स्पर्श आदिसे आकाश, जलकी आर्द्रता आदिसे सूर्य और गन्ध आदिसे वायु। उनकी विमल बुद्धिकी तलवार असङ्ग-भावनाकी सानसे और भी तीखी हो जाती है और वे उससे अपने सारे संशय-सन्देहोंको काट-कूटकर फेंक देते हैं। जैसे कोई स्वप्नसे जाग उठा हो, उसी प्रकार वे इस भेदबुद्धिके भ्रमसे मुक्त हो जाते हैं॥ ११-१३॥

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।
वृत्तयः स[1] विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥ १४॥

जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना सङ्कल्पके होती हैं, वे देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त हैं।१४।

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद् यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥ १५॥

उन तत्त्वज्ञ मुक्त पुरुषोंके शरीरको चाहे हिंसक लोग पीड़ा पहुँचायें और चाहे कभी कोई दैव-योगसे पूजा करने लगे—वे न तो किसीके सतानेसे दुखी होते हैं और न पूजा करनेसे सुखी॥ १५॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः॥ १६॥

जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी भेददृष्टिसे ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और न बुरे काम करनेवालेकी निन्दा; न वे किसीकी अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरी बात सुनकर

१. स तु मुक्तो वै दे०।

किसीको झिड़कते ही हैं ॥ १६ ॥

न कुर्यान्न वदेत् किंचिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ १७ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं, न कुछ भला या बुरा कहते हैं और न सोचते ही हैं । वे व्यवहारमें अपनी समान वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें ही मग्न रहते हैं और जड़के समान मानो कोई मूर्ख हो, इस प्रकार विचरण करते रहते हैं ॥ १७ ॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥ १८ ॥

प्यारे उद्धव ! जो पुरुष वेदोंका तो पारगामी विद्वान् हो परन्तु परब्रह्मके ज्ञानसे शून्य हो, उसके परिश्रमका कोई फल नहीं है। वह तो वैसा ही है, जैसे बिना दूधकी गायका पालनेवाला ॥ १८ ॥

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥ १९ ॥

दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारिणी स्त्री, पराधीन शरीर, दुष्ट पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया हुआ धन और मेरे गुणोंसे रहित वाणी व्यर्थ है । इन वस्तुओंकी रखवाली करनेवाला दुःख-पर-दुःख ही भोगता रहता है ॥ १९ ॥

१. यदा ।

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥ २० ॥

इसलिये उद्धव ! जिस वाणीमें जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप मेरी लोकपावन लीलाका वर्णन न हो और लीलावतारोंमें भी मेरे लोकप्रिय राम-कृष्णादि अवतारोंका जिसमें यशोगान न हो वह वाणी वन्ध्या है । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि ऐसी वाणीका उच्चारण एवं श्रवण न करे ॥ २० ॥

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥ २१ ॥

प्रिय उद्धव ! जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, आत्मजिज्ञासा और विचारके द्वारा आत्मामें जो अनेकताका भ्रम है, उसे दूर कर दे और मुझ सर्वव्यापी परमात्मामें अपना निर्मल मन लगा दे तथा संसारके व्यवहारोंसे उपराम हो जाय ॥ २१ ॥

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥ २२ ॥

यदि तुम अपना मन परब्रह्ममें स्थिर न कर सको, तो सारे कर्म निरपेक्ष होकर मेरे लिये ही करो ॥ २२ ॥

श्रद्धालुर्मे कथाः[1] शृण्वन् सुभद्रा[2] लोकपावनीः[3] ।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः ॥ २३ ॥

---

१. कथाम् । २. सुभद्राम् । ३. पावनीम् ।

मेरी कथाएँ समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली एवं कल्याण-स्वरूपिणी हैं। श्रद्धाके साथ उन्हें सुनना चाहिये। बार-बार मेरे अवतार और लीलाओंका गान, स्मरण और अभिनय करना चाहिये ॥ २३ ॥

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥ २४ ॥

मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिये धर्म, काम और अर्थका सेवन करना चाहिये। प्रिय उद्धव ! जो ऐसा करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुषके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ २४ ॥

सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥ २५ ॥

भक्तिकी प्राप्ति सत्सङ्गसे होती है, जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है, वह मेरी उपासना करता है, मेरे सान्निध्यका अनुभव करता है। इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतोंके उपदेशोंके अनुसार उनके द्वारा बताये हुए मेरे परमपद-को—वास्तविक स्वरूपको सहजहीमें प्राप्त हो जाता है ॥ २५ ॥

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो[1]।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत[2] कीदृशी सद्भिरादृता ॥ २६ ॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! बड़े-बड़े संत आपकी कीर्तिका गान करते हैं। आप कृपया बतलाइये कि आपके विचारसे संत

१. विभो। २. त्वयि प्रयुज्येत।

पुरुषका क्या लक्षण है ? आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिये, जिसका संतलोग आदर करते हैं ? ॥ २६ ॥

एतन्मे[1] पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।
प्रणतायानुरक्ताय[2] प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥ २७ ॥

भगवन् ! आप ही ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता, सत्यादि लोक और चराचर जगत्के स्वामी हैं। मैं आपका विनीत, प्रेमी और शरणागत भक्त हूँ। आप मुझे भक्ति और भक्तका रहस्य बतलाइये ॥ २७ ॥

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥ २८ ॥

भगवन् ! मैं जानता हूँ कि आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म हैं। आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है; फिर भी आपने लीलाके लिये स्वेच्छासे ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है। इसलिये वास्तवमें आप ही भक्ति और भक्तका रहस्य बतला सकते हैं ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥ २९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव ! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवनका

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'एतन्मे पुरुषेशाय प्रपन्नाय च कथ्यताम्'। २. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

सार है सत्य और उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है ॥ २९ ॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥ ३०॥

उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिये वह कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है ॥ ३० ॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥ ३१॥

वह प्रमादरहित, गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वशमें रहते हैं। वह स्वयं तो कभी किसीसे किसी प्रकारका सम्मान नहीं चाहता, परन्तु दूसरोंका सम्मान करता रहता है। मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका व्यवहार करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी होती है। मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है ॥ ३१ ॥

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥ ३२॥

प्रिय उद्धव ! मैंने वेदों और शास्त्रोंके रूपमें मनुष्योंके धर्मका उपदेश किया है, उनके पालनसे अन्तःकरणशुद्धि आदि गुण और उल्लङ्घनसे नरकादि दुःख प्राप्त होते हैं; परन्तु मेरा जो भक्त उन्हें भी अपने ध्यान आदिमें विक्षेप समझकर त्याग देता है और केवल मेरे ही भजनमें लगा रहता है; वह परम संत है ॥ ३२ ॥

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥ ३३ ॥

मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ,—इन बातोंको जाने, चाहे न जाने; किन्तु जो अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरे विचारसे मेरे परम भक्त हैं ॥ ३३ ॥

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥ ३४ ॥

प्यारे उद्धव ! मेरी मूर्ति और मेरे भक्तजनोंका दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति और प्रणाम करे तथा मेरे गुण और कर्मोंका कीर्तन करे ॥ ३४ ॥

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ ३५ ॥

उद्धव ! मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा रक्खे और निरन्तर मेरा ध्यान करता रहे । जो कुछ मिले, वह मुझे समर्पित कर दे और दास्यभावसे मुझे आत्मनिवेदन करे ॥ ३५ ॥

मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥

मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंकी चर्चा करे। जन्माष्टमी, रा
नवमी आदि पर्वोंपर आनन्द मनावे और संगीत, नृत्य, बाजे औ
समाजोंद्वारा मेरे मन्दिरोंमें उत्सव करे-करावे ॥ ३६ ॥

यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ ३७

वार्षिक त्यौहारोंके दिन मेरे स्थानोंकी यात्रा करे, जुलू
निकाले तथा विविध उपहारोंसे मेरी पूजा करे। वैदिक अथवा तान्त्रि
पद्धतिसे दीक्षा ग्रहण करे। मेरे व्रतोंका पालन करे ॥ ३७॥

ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८

मन्दिरोंमें मेरी मूर्तियोंकी स्थापनामें श्रद्धा रक्खे। यदि यह का
अकेला न कर सके, तो औरोंके साथ मिलकर उद्योग करे। इ
लिये पुष्पवाटिका, बगीचे, क्रीड़ाके स्थान, नगर और मन्दि
बनवावे ॥ ३८ ॥

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया ॥ ३९

सेवककी भाँति श्रद्धा-भक्तिके साथ निष्कपट भावसे मेरे मन्दिरों
की सेवा-शुश्रूषा करे—झाड़े-बुहारे, लीपे-पोते, छिड़काव करे औ
तरह-तरहके चौक पूरे ॥ ३९ ॥

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम्।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ ४०

अभिमान न करे, दम्भ न करे। साथ ही अपने शु

कर्मोंका ढिंढोरा भी न पीटे। प्रिय उद्धव! मेरे चढ़ानेकी अपने काममें लगानेकी बात तो दूर रही, मुझे समर्पित दीपकके प्रकाशसे भी अपना काम न ले। किसी दूसरे देवताकी चढ़ायी हुई वस्तु मुझे न चढ़ावे ॥ ४० ॥

यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ ४१ ॥

संसारमें जो वस्तु अपनेको सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े वह मुझे समर्पित कर दे। ऐसा करनेसे वह वस्तु अनन्त फल देनेवाली हो जाती है ॥ ४१ ॥

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ ४२ ॥

भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजाके स्थान हैं ॥ ४२ ॥

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥ ४३ ॥

प्यारे उद्धव! ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा सूर्यमें मेरी पूजा करनी चाहिये। हवनके द्वारा अग्निमें, आतिथ्य-द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणमें और हरी-हरी घास आदिके द्वारा गौमें मेरी पूजा करे ॥ ४३ ॥

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥ ४४ ॥

भाई-बन्धुके समान सत्कारके द्वारा वैष्णवमें, निरन्तर ध्यानमें लगे रहनेसे हृदयाकाशमें, मुख्य प्राण समझनेसे वायुमें और जल-पुष्प आदि सामग्रियोंद्वारा जलमें मेरी आराधना की जाती है ॥ ४४ ॥

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ ४५ ॥

गुप्तमन्त्रोंद्वारा न्यास करके मिट्टीकी वेदीमें, उपयुक्त भोगोंद्वारा आत्मामें और समदृष्टिद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी आराधना करनी चाहिये, क्योंकि मैं सभीमें क्षेत्रज्ञ आत्माके रूपमें स्थित हूँ ॥ ४५ ॥

धिष्ण्येष्वे[1]ष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥ ४६ ॥

इन सभी स्थानोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये चार भुजाओंवाले शान्तमूर्ति श्रीभगवान् विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करते हुए एकाग्रताके साथ मेरी पूजा करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे यज्ञ-यागादि इष्ट और कुआँ-बावली बनवाना आदि पूर्तकर्मोंके द्वारा मेरी पूजा करता है, उसे मेरी श्रेष्ठ भक्ति प्राप्त होती है तथा संत पुरुषोंकी सेवा करनेसे मेरे स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है ॥ ४७ ॥

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥ ४८ ॥

---

१. ष्वेतेषु म० ।

प्यारे उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्ति-योग—इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई उपाय नहीं है; क्योंकि संतपुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ ॥ ४८ ॥

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा ॥ ४९ ॥

प्यारे उद्धव ! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त गोपनीय परम रहस्य-की बात बतलाऊँगा; क्योंकि तुम मेरे प्रिय सेवक, हितैषी, सुहृद् और प्रेमी सखा हो; साथ ही सुननेके भी इच्छुक हो ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सत्सङ्गकी महिमा और कर्म तथा कर्मत्यागकी विधि

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

---

१. यज्ञाः।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! जगत्‌में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणासे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँतक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्गके समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ १-२ ॥

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ॥ ४ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५ ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥ ६ ॥

निष्पाप उद्धवजी ! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्सङ्गके द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण,

१. युगे युगे ।

सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं ॥ ३—६ ॥

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७ ॥

उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्सङ्गके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये ॥ ७ ॥

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥

गोपियाँ, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रजके हरिन आदि पशु, कालिय आदि नाग—ये तो साधन-साध्यके सम्बन्धमें सर्वथा ही मूढबुद्धि थे। इतने ही नहीं, ऐसे-ऐसे और भी बहुत हो गये हैं, जिन्होंने केवल प्रेमपूर्ण भावके द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृतकृत्य हो गये ॥ ८ ॥

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥ ९ ॥

उद्धव ! बड़े-बड़े प्रयत्नशील साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुतियोंकी व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनोंके द्वारा मुझे नहीं प्राप्त कर सकते, परन्तु सत्सङ्गके द्वारा तो मैं अत्यन्त सुलभ हो जाता हूँ ॥ ९ ॥

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥ १० ॥

उद्धव ! जिस समय अक्रूरजी भैया बलरामजीके साथ मुझे व्रजसे मथुरा ले आये, उस समय गोपियोंका हृदय गाढ़ प्रेमके कारण मेरे अनुरागके रंगमें रँगा हुआ था। मेरे वियोगकी तीव्र व्याधिसे वे व्याकुल हो रही थीं और मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखकारक नहीं जान पड़ती थी ॥ १० ॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥ ११ ॥

तुम जानते हो कि मैं ही उनका एकमात्र प्रियतम हूँ। जब मैं वृन्दावनमें था, तब उन्होंने बहुत-सी रात्रियाँ—वे रासकी रात्रियाँ मेरे साथ आधे क्षणके समान बिता दी थीं, प्यारे उद्धव ! मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये एक-एक कल्पके समान हो गयीं ॥ ११ ॥

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥ १२ ॥

जैसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि समाधिमें स्थित होकर तथा गङ्गा

आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर और अपने कहलानेवाले पति-पुत्रादिकी भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी ॥ १२ ॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥ १३ ॥

उद्धव ! उन गोपियोंमें बहुत-सी तो ऐसी थीं, जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानती थीं । वे मुझे भगवान् न जानकर केवल प्रियतम ही समझती थीं और जारभावसे मुझसे मिलनेकी आकांक्षा किया करती थीं । उन साधनहीन सैकड़ों, हजारों अबलाओंने केवल सङ्गके प्रभावसे ही मुझ परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लिया ॥ १३ ॥

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ १४ ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥ १५ ॥

इसलिये उद्धव ! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुननेयोग्य तथा सुने हुए विषयका भी परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप मुझ एककी ही शरण सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करो; क्योंकि मेरी शरणमें आ जानेसे तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे ॥ १४-१५ ॥

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ।
न निवर्तत[1] आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥ १६ ॥

उद्धवजीने कहा—सनकादि योगेश्वरोंके भी परमेश्वर प्रभो ! यों तो मैं आपका उपदेश सुन रहा हूँ, परन्तु इससे मेरे मनका सन्देह मिट नहीं रहा है । मुझे स्वधर्मका पालन करना चाहिये या सब कुछ छोड़कर आपकी शरण ग्रहण करनी चाहिये, मेरा मन इसी दुविधामें लटक रहा है । आप कृपा करके मुझे भलीभाँति समझाइये ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! जिस परमात्माका परोक्षरूपसे वर्णन किया जाता है, वे साक्षात् अपरोक्ष—प्रत्यक्ष ही हैं, क्योंकि वे ही निखिल वस्तुओंको सत्ता-स्फूर्ति—जीवन-दान करनेवाले हैं, वे ही पहले अनाहत नादस्वरूप परा वाणी नामक प्राणके साथ मूलाधारचक्रमें प्रवेश करते हैं । उसके बाद मणिपूरक-चक्र (नाभिस्थान) में आकर पश्यन्ती वाणीका मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करते हैं । तदनन्तर कण्ठदेशमें स्थित विशुद्ध नामक चक्रमें

1. निवर्तेत ।

आते हैं और वहाँ मध्यमा वाणीके रूपमें व्यक्त होते हैं। फिर क्रमशः मुखमें आकर ह्रस्व-दीर्घादि मात्रा, उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर तथा ककारादि वर्णरूप स्थूल—वैखरी वाणीका रूप ग्रहण कर लेते हैं॥ १७॥

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी॥ १८॥

अग्नि आकाशमें ऊष्मा अथवा विद्युत्के रूपसे अव्यक्तरूपमें स्थित है। जब बलपूर्वक काष्ठमन्थन किया जाता है, तब वायुकी सहायतासे वह पहले अत्यन्त सूक्ष्म चिनगारीके रूपमें प्रकट होती है और फिर आहुति देनेपर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मैं भी शब्दब्रह्मस्वरूपसे क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणीके रूपमें प्रकट होता हूँ॥ १८॥

एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
संकल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः॥ १९॥

इसी प्रकार बोलना, हाथोंसे काम करना, पैरोंसे चलना, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदासे मल-मूत्र त्यागना, सूँघना, चखना, देखना, छूना, सुनना, मनसे संकल्प-विकल्प करना, बुद्धिसे समझना, अहङ्कारके द्वारा अभिमान करना, महत्तत्त्वके रूपमें सबका ताना-

वाना बनना तथा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके सारे विकार, कहाँतक कहूँ—समस्त कर्ता, कारण और कर्म मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं ॥ १९ ॥

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥ २० ॥

यह सबको जीवित करनेवाला परमेश्वर ही इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमलका कारण है । यह आदि-पुरुष पहले एक और अव्यक्त था । जैसे उपजाऊ खेतमें बोया हुआ बीज शाखा-पत्र-पुष्पादि अनेक रूप धारण कर लेता है, वैसे ही कालगतिसे मायाका आश्रय लेकर शक्ति-विभाजनके द्वारा परमेश्वर ही अनेक रूपोंमें प्रतीत होने लगता है ॥ २० ॥

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥ २१ ॥

जैसे तागोंके ताने-बानेमें वस्त्र ओतप्रोत रहता है, वैसे ही यह सारा विश्व परमात्मामें ही ओतप्रोत है । जैसे सूतके बिना वस्त्रका अस्तित्व नहीं है; किन्तु सूत वस्त्रके बिना भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत्‌के न रहनेपर भी परमात्मा रहता है; किन्तु यह जगत् परमात्मस्वरूप ही है—परमात्माके बिना इसका कोई

अस्तित्व नहीं है। यह संसारवृक्ष अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य है। इसका स्वरूप ही है—कर्मकी परम्परा तथा इस वृक्षके फल-फूल हैं—मोक्ष और भोग ॥ २१ ॥

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥ २२ ॥

इस संसार-वृक्षके दो बीज हैं—पाप और पुण्य। असंख्य वासनाएँ जड़ें हैं और तीन गुण तने हैं। पाँच भूत इसकी मोटी-मोटी प्रधान शाखाएँ हैं और शब्दादि पाँच विषय रस हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ शाखा हैं तथा जीव और ईश्वर—दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर निवास करते हैं। इस वृक्षमें वात, पित्त और कफरूप तीन तरहकी छाल है। इसमें दो तरहके फल लगते हैं—सुख और दुःख। यह विशाल वृक्ष सूर्यमण्डलतक फैला हुआ है (इस सूर्यमण्डलका भेदन कर जानेवाले मुक्त पुरुष फिर संसार-चक्रमें नहीं पड़ते) ॥ २२ ॥

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ २३ ॥

जो गृहस्थ शब्द-रूप-रस आदि विषयोंमें फँसे हुए हैं, वे कामनासे भरे हुए होनेके करण गीधके समान हैं। वे इस वृक्षका दुःखरूप फल भोगते हैं। क्योंकि वे अनेक प्रकारके कर्मोंके बन्धनमें

फँसे रहते हैं। जो अरण्यवासी परमहंस विषयोंसे विरक्त हैं, वे इस वृक्षमें राजहंसके समान हैं और वे इसका सुखरूप फल भोगते हैं। प्रिय उद्धव! वास्तवमें मैं एक ही हूँ। यह मेरा जो अनेकों प्रकारका रूप है, वह तो केवल मायामय है। जो इस बातको गुरुओंके द्वारा समझ लेता है, वही वास्तवमें समस्त वेदोंका रहस्य जानता है ॥ २३ ॥

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ २४ ॥

अतः उद्धव! तुम इस प्रकार गुरुदेवकी उपासनारूप अनन्य भक्तिके द्वारा अपने ज्ञानकी कुल्हाड़ीको तीखी कर लो और उसके द्वारा धैर्य एवं सावधानीसे जीवभावको काट डालो। फिर परमात्मस्वरूप होकर उस वृत्तिरूप अस्त्रोंको भी छोड़ दो और अपने अखण्ड स्वरूपमें ही स्थित हो रहो ॥ २४ ॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

* ईश्वर अपनी मायाके द्वारा प्रपञ्चरूपसे प्रतीत हो रहा है। इस प्रपञ्चके अध्यासके कारण ही जीवोंको अनादि अविद्यासे कर्तापन आदिकी भ्रान्ति होती है। फिर 'यह करो, यह मत करो' इस प्रकारके विधि-

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

हंसरूपसे सनकादिको दिये हुए उपदेशका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों बुद्धि (प्रकृति) के गुण हैं, आत्माके नहीं । सत्त्वके द्वारा रज और तम—इन दो गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये । तदनन्तर सत्त्वगुणकी शान्तवृत्तिके द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियोंको भी शान्त कर देना चाहिये ॥ १ ॥

सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २ ॥

जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तभी जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है । निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है ॥ २ ॥

निषेधका अधिकार होता है । तब 'अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करो'—यह बात कही जाती है । जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब कर्मसम्बन्धी दुराग्रह मिटानेके लिये यह बात कही जाती है कि भक्तिमें विक्षेप डालनेवाले कर्मोंके प्रति आदरभाव छोड़कर दृढ़ विश्वाससे भजन करो । तत्त्वज्ञान हो जानेपर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता । यही इस प्रसङ्गका अभिप्राय है ।

धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३ ॥

जिस धर्मके पालनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही सबसे श्रे... है। वह धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है। ज... वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हींके कारण होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है ॥ ३ ॥

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४ ॥

शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दश वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं ॥ ४ ॥

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते ।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५ ॥

इनमेंसे शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुएँ राजसिक हैं ॥ ५ ॥

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥

जबतक अपने आत्माका साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणोंकी निवृत्ति न हो, तबतक मनुष्यको

१. हनी ।

चाहिये कि सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करे; क्योंकि उससे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मकी वृद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

वेणुसंघर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥ ७ ॥

बाँसोंकी रगड़से आग पैदा होती है और वह उनके सारे वनको जलाकर शान्त हो जाती है। वैसे ही यह शरीर गुणोंके वैषम्यसे उत्पन्न हुआ है। विचारद्वारा मन्थन करनेपर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणोंको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ ७ ॥

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम् ।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तियोंके घर हैं; फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान दुःख सहन करके भी उन्हींको ही भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! जीव जब अज्ञान-वश अपने स्वरूपको भूलकर हृदयसे सूक्ष्म-स्थूलादि शरीरोंमें अहंबुद्धि

कर बैठता है—जो कि सर्वथा भ्रम ही है—तब उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुणकी ओर झुक जाता है, उससे व्याप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

रजोयुक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः ।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुस्सहः स्याद्धि दुर्मतेः ॥ १० ॥

बस, जहाँ मनमें रजोगुणकी प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पोंका ताँता बँध जाता है । अब वह विषयोंका चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्बुद्धिके कारण कामके फंदेमें फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना बहुत ही कठिन है ॥ १० ॥

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः ॥ ११ ॥

अब वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकारके कर्म करने लगता है और इन्द्रियोंके वश होकर, यह जानकर भी कि इन कर्मोंका अन्तिम फल दुःख ही है, उन्हींको करता है । उस समय वह रजोगुणके तीव्र वेगसे अत्यन्त मोहित रहता है ॥ ११ ॥

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः ।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥ १२ ॥

यद्यपि विवेकी पुरुषका चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणके वेगसे विक्षिप्त होता है, तथापि उसकी विषयोंमें दोष-दृष्टि बनी रहती है; इसलिये वह बड़ी सावधानीसे अपने चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति नहीं होती ॥ १२ ॥

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।
अनिर्विण्णो यथाकालं[1] जितश्वासो जितासनः ॥ १३ ॥

साधकको चाहिये कि आसन और प्राणवायुपर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समयके अनुसार बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साहसे उसीमें जुड़ जाय ॥ १३ ॥

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥ १४ ॥

प्रिय उद्धव ! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियोंने योगका यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मनको सब ओरसे खींचकर विराट् आदिमें नहीं, साक्षात् मुझमें ही पूर्णरूपसे लगा दें ॥ १४ ॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव ।
योगमादिष्टवानेतद् रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥ १५ ॥

उद्धवजीने कहा—श्रीकृष्ण ! आपने जिस समय जिस रूपसे, सनकादि परमर्षियोंको योगका आदेश दिया था, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम् ॥ १६ ॥

१. यथाकामं ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! सनकादि परमर्षि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। उन्होंने एक बार अपने पितासे योगकी सूक्ष्म अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इस प्रकार प्रश्न किया था ॥ १६ ॥

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥ १७ ॥

सनकादि परमर्षियोंने पूछा—पिताजी ! चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं। अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसारसागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक दूसरेसे अलग कैसे कर सकता है ? ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! यद्यपि ब्रह्माजी सब देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू और प्राणियोंके जन्मदाता हैं। फिर भी सनकादि परमर्षियोंके इस प्रकार पूछनेपर ध्यान करके भी वे प्रश्नका मूलकारण न समझ सके; क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मप्रवण थी ॥ १८ ॥

स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥ १९ ॥

१. रतितीर्षया।

उद्धव ! उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्ति-भावसे मेरा चिन्तन किया। तब मैं हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥ २० ॥

मुझे देखकर सनकादि ब्रह्माजीको आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणोंकी वन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं ?' ॥ २० ॥

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥ २१ ॥

प्रिय उद्धव ! सनकादि परमार्थतत्त्वके जिज्ञासु थे; इसलिये उनके पूछनेपर उस समय मैंने जो कुछ कहा वह तुम मुझसे सुनो—॥ २१ ॥

वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः ।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥ २२ ॥

ब्राह्मणो ! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तब आत्माके सम्बन्धमें आप लोगोंका ऐसा प्रश्न कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ? अथवा मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोलूँ भी तो किस जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ ? ॥ २२ ॥

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥ २३ ॥

देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पञ्चभूतात्मक होनेके कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थरूपसे भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें आप कौन हैं?' आप लोगोंका यह प्रश्न ही केवल वाणीका व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है ॥ २३ ॥

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ २४ ॥

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये ॥ २४ ॥

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥ २५ ॥

पुत्रो ! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं—उपाधि हैं। अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ २५ ॥

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥ २६ ॥

इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविकसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥ २७ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्दका स्वभाव नहीं। इन वृत्तियोंका साक्षी होनेके कारण जीव उनसे विलक्षण है। यह सिद्धान्त श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है ॥ २७ ॥

यर्हि[1] संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम् ॥ २८ ॥

क्योंकि बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है। इसलिये तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस बुद्धिके बन्धनका परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनोंका युगपत् त्याग हो जाता है ॥ २८ ॥

अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ २९ ॥

यह बन्धन अहङ्कारकी ही रचना है और यही आत्माके परिपूर्णतम सत्य, अखण्डज्ञान और परमानन्दस्वरूपको छिपा देता है। इस बातको जानकर विरक्त हो जाय। और अपने तीन अवस्थाओंमें अनुगत तुरीयस्वरूपमें होकर संसारकी चिन्ताको छोड़ दे ॥ २९ ॥

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।
जागर्त्यपि स्वपन्[2]नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥ ३० ॥

---

१. यो हि। २. स्वप्नयुक्तः।

जबतक पुरुषकी भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सत्यत्वबुद्धि, अहंबुद्धि और ममबुद्धि युक्तियोंके द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक वह अज्ञानी यद्यपि जागता है तथापि सोता हुआ-सा रहता है—जैसे स्वप्नावस्थामें जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ ॥ ३० ॥

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता¹ भिदा ।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥ ३१ ॥

आत्मासे अन्य देह आदि प्रतीयमान नामरूपात्मक प्रपञ्चका कुछ भी अस्तित्व नहीं है । इसलिये उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादिफल और उनके कारणभूत कर्म—ये सब-के-सब इस आत्माके लिये वैसे ही मिथ्या हैं, जैसे स्वप्नदर्शी पुरुषके द्वारा देखे हुए सब-के-सब पदार्थ ॥ ३१ ॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥ ३२ ॥

जो जाग्रत्-अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण क्षणभङ्गुर पदार्थोंको अनुभव करता है और स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रत्में देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका अनुभव करता है और सुषुप्ति-अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है । जाग्रत्-अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्नावस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती

१. किंकृता ।

बुद्धिका भी वही स्वामी है; क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जिस मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक ही आत्माका समस्त अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है ॥ ३२ ॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्थां
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥ ३३ ॥

ऐसा विचारकर मनकी ये तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायासे मेरे अंशस्वरूप जीवमें कल्पित की गयी हैं और आत्मामें ये नितान्त असत्य हैं, ऐसा निश्चय करके तुमलोग अनुमान, सत्पुरुषोंद्वारा किये गये उपनिषदोंके श्रवण और तीक्ष्ण ज्ञान खड्गके द्वारा सकल संशयोंके आधार अहंकारका छेदन करके हृदयमें स्थित मुझ परमात्माका भजन करो ॥ ३३ ॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ ३४ ॥

यह जगत् मनका विलास है, दीखनेपर भी नष्टप्राय है, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी) के समान अत्यन्त चञ्चल है और भ्रममात्र है—ऐसा समझे। ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित एक ज्ञानस्वरूप

१. स्याम्। २. श्रितार्थः। ३. विज्ञातमे०।

आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है। यह स्थूल शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान मायाका खेल है, अज्ञानसे कल्पित है॥ ३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं[1] भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥ ३५॥

इसलिये उस देहादिरूप दृश्यसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाय। यद्यपि कभी-कभी आहार आदिके समय यह देहादिक प्रपञ्च देखनेमें आता है, तथापि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है। इसलिये वह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है॥ ३५॥

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३६॥

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीरसे उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है,

१. त्यक्तुम्।

वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है —नश्वर शरीरसम्बन्धी इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता ॥ ३६ ॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३७ ॥

प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारब्धके अधीन है। इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है। परन्तु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योगमें आरूढ़ पुरुष, स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपञ्च-के सहित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्थाके शरीर आदिको ॥ ३७॥

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः ।
जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥ ३८ ॥

सनकादि ऋषियो ! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सांख्य और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य है। मैं स्वयं भगवान् हूँ, तुम-लोगोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो ॥ ३८ ॥

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः ।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥ ३९ ॥

विप्रवरो ! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुरभाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह) इन सबकी परमगति—परम अधिष्ठान हूँ ॥ ३९ ॥

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥ ४० ॥

मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी साम्य, असङ्गता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हूँ। सच पूछो तो, उन्हें गुण कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सत्त्वादि गुणोंके परिणाम नहीं हैं और नित्य हैं ॥ ४० ॥

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः ॥ ४१ ॥

प्रिय उद्धव ! इस प्रकार मैंने सनकादि मुनियोंके संशय मिटा दिये। उन्होंने परम भक्तिसे मेरी पूजा की और स्तुतियोंद्वारा मेरी महिमाका गान किया ॥ ४१ ॥

तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः ।
प्रत्येयाय[1] स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥ ४२ ॥

जब उन परमर्षियोंने भलीभाँति मेरी पूजा और स्तुति कर ली, तब मैं ब्रह्माजीके सामने ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

१. प्रतीयाय ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

भक्तियोगकी महिमा तथा ध्यान-विधिका वर्णन

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥

उद्धवजीने पूछा—श्रीकृष्ण ! ब्रह्मवादी महात्मा आत्मकल्याण-के अनेकों साधन बतलाते हैं । उनमें अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं अथवा किसी एककी प्रधानता है ? ॥ १ ॥

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥ २ ॥

मेरे स्वामी ! आपने तो अभी-अभी भक्तियोगको ही निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र साधन बतलाया है, क्योंकि इसीसे सब ओरसे आसक्ति छोड़कर मन आपमें ही तन्मय हो जाता है ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! यह वेद-वाणी समयके फेरसे प्रलयके अवसरपर लुप्त हो गयी थी, फिर जब सृष्टिका समय आया, तब मैंने अपने सङ्कल्पसे ही इसे ब्रह्माको उपदेश किया, इसमें मेरे भागवतधर्मका ही वर्णन है ॥ ३ ॥

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥ ४ ॥

ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उपदेश किया और उनसे भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात प्रजापति-महर्षियोंने ग्रहण किया ॥ ४ ॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥ ५ ॥
किंदेवाः किंनरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः ।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥ ६ ॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा ।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥ ७ ॥

तदनन्तर इन ब्रह्मर्षियोंकी सन्तान देवता, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किन्देव*, किन्नर†, नाग, राक्षस और किम्पुरुष‡ आदिने इसे अपने पूर्वज इन्हीं ब्रह्मर्षियोंसे प्राप्त किया । सभी जातियों और व्यक्तियोंके स्वभाव—उनकी वासनाएँ सत्त्व, रज और तमोगुणके कारण भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये उनमें और उनकी बुद्धि-वृत्तियोंमें भी अनेकों भेद हैं । इसीलिये वे सभी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उस वेदवाणीका भिन्न-भिन्न

१. ताभिः ।

* श्रम और स्वेदादि दुर्गन्धसे रहित होनेके कारण जिनके विषयमें 'ये देवता हैं या मनुष्य' ऐसा सन्देह हो, वे द्वीपान्तरनिवासी मनुष्य ।

† मुख तथा शरीरकी आकृतिसे कुछ-कुछ मनुष्यके समान प्राणी ।

‡ कुछ-कुछ पुरुषके समान प्रतीत होनेवाले वानरादि ।

अर्थ ग्रहण करते हैं । वह वाणी ही ऐसी अलौकिक है कि उससे विभिन्न अर्थ निकलना स्वाभाविक ही है ॥ ५-७ ॥

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाखण्डमतयोऽपरे ॥ ८ ॥

इसी प्रकार स्वभावभेद तथा परम्परागत उपदेशके भेदसे मनुष्योंकी बुद्धिमें भिन्नता आ जाती है और कुछ लोग तो बिना किसी विचारके वेदविरुद्ध पाखण्डमतावलम्बी हो जाते हैं ॥ ८ ॥

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥ ९ ॥

प्रिय उद्धव ! सभीकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित हो रही है; इसीसे वे अपने-अपने कर्म-संस्कार और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार आत्मकल्याणके साधन भी एक नहीं अनेकों बतलाते हैं ॥ ९ ॥

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा[1] ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥ १० ॥

पूर्वमीमांसक धर्मको, साहित्याचार्य यशको, कामशास्त्री कामको, योगवेत्ता सत्य और शम-दमादिको, दण्डनीतिकार ऐश्वर्यको, त्यागी त्यागको और लोकायतिक भोगको ही मनुष्य-जीवनका स्वार्थ—परम लाभ बतलाते हैं ॥ १० ॥

केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान् ।
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः[2] ॥ ११ ॥

१. वै । २. शुचार्दिताः ।

कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदिको पुरुषार्थ बतलाते हैं परन्तु ये सभी कर्म हैं, इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं, वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं। कर्मोंका फल समाप्त हो जानेपर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। उनसे जो सुख मिलता है, वह तुच्छ है—नगण्य है और वे लोक भोगके समय भी असूया आदि दोषोंके कारण शोकसे परिपूर्ण हैं। (इसलिये इन विभिन्न साधनोंके फेरमें न पड़ना चाहिये) ॥ ११ ॥

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम् ॥१२॥

प्रिय उद्धव ! जो सब ओरसे निरपेक्ष—बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदिकी आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दस्वरूप मैं उसकी आत्माके रूपमें स्फुरित होने लगता हूँ, इससे वह जिस सुखका अनुभव करता है, वह विषयलोलुप प्राणियोंको किसी प्रकार मिल नहीं सकता ॥ १२ ॥

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य[1] समचेतसः ।
मया संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ १३ ॥

जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित—अकिञ्चन है, जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सान्निध्यका अनुभव करके ही सदा-

१. शुद्धस्य ।

सर्वदा पूर्ण सन्तोषका अनुभव करता है, उसके लिये आकाशका एक-एक कोना आनन्दसे भरा हुआ है ॥ १३ ॥

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ॥ १४ ॥

जिसने अपनेको मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका, उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है । वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षतककी अभिलाषा नहीं करता ॥ १४ ॥

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥ १५ ॥

उद्धव ! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शङ्कर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है ॥ १५ ॥

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्[1] ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ १६ ॥

जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके

१. समदर्शिनम् ।

पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ ॥ १६ ॥

निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥ १७ ॥

जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँतक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता—उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूपका अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ १८ ॥

उद्धवजी ! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बढ़नेवाली मेरी प्रगल्भ भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता ॥ १८ ॥

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥

उद्धव ! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियोंके बड़े ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप-राशिको पूर्णतया जला डालती है ॥ १९ ॥

न साधयति मां योगो[1] न सांख्यं धर्म[2] उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥

उद्धव ! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति ॥ २० ॥

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ २१ ॥

मैं संतोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ । मुझे प्राप्त करनेका यह एक ही उपाय है । मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र—जातिदोषसे मुक्त कर देती है, जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं ॥ २१ ॥

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥ २२ ॥

इसके विपरीत जो मेरी भक्तिसे वञ्चित हैं, उनके चित्तको सत्य और दयासे युक्त धर्म और तपस्यासे युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करनेमें असमर्थ है ॥ २२ ॥

---

१. धर्मो । २. योग ।

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः ।२३।

जबतक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघलकर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्दके आँसू आँखोंसे छलकने नहीं लगते तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भक्तिकी बाढ़में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तबतक इसके शुद्ध होनेकी कोई सम्भावना नहीं है ॥ २३ ॥

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ २४ ॥

जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षणके लिये भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है, भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है ॥ २४ ॥

यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ २५ ॥

जैसे आगमें तपानेपर सोना मैल छोड़ देता है—निखर जाता

है और अपने असली शुद्ध रूपमें स्थित हो जाता है; वैसे ही मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा कर्म-वासनाओंसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ ॥ २५ ॥

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६ ॥

उद्धवजी ! मेरी परमपावन लीला-कथाके श्रवण-कीर्तनसे ज्यों-ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्मवस्तुके—वास्तविक तत्त्वके दर्शन होने लगते हैं—जैसे अञ्जनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उनमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है ॥ २६ ॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ २७ ॥

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है ॥ २७ ॥

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥ २८ ॥

इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलोंका चिन्तन छोड़ दो ।

१. तत्त्वसूक्ष्मम् ।

अरे भाई! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ जान पड़ता है, वह ठीक वैसा ही है जैसे स्वप्न अथवा मनोरथका राज्य। इसलिये मेरे चिन्तनसे—तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरहसे—एकाग्रतासे मुझमें ही लगा दो ॥ २८ ॥

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ २९ ॥

संयमी पुरुष स्त्रियों और उनके प्रेमियोंका सङ्ग दूरसे ही छोड़कर, पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर बड़ी सावधानीसे मेरा ही चिन्तन करे ॥ २९ ॥

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३० ॥

प्यारे उद्धव! स्त्रियोंके सङ्गसे और स्त्रीसङ्गियोंके—लम्पटोंके सङ्गसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और फँसावट और किसीके भी सङ्गसे नहीं होती ॥ ३० ॥

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

उद्धवजीने पूछा—कमलनयन श्यामसुन्दर! आप कृपा करके यह बतलाइये कि मुमुक्षु पुरुष आपका किस रूपसे किस प्रकार और किस भावसे ध्यान करे? ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥ ३२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा—प्रिय उद्धव ! जो न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ही—ऐसे आसनपर शरीरको सीधा रखकर आरामसे बैठ जाय, हाथोंको अपनी गोदमें रख ले और दृष्टि अपनी नासिकाके अग्रभागपर जमावे ॥ ३२ ॥

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥

इसके बाद पूरक, कुम्भक और रेचक तथा रेचक, कुम्भक और पूरक—इन प्राणायामोंके द्वारा नाड़ियोंका शोधन करे। प्राणायामका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये और उसके साथ-साथ इन्द्रियोंको जीतनेका भी अभ्यास करना चाहिये ॥ ३३ ॥

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ॥ ३४ ॥

हृदयमें कमल-नालगत पतले सूतके समान ॐकारका चिन्तन करे। प्राणके द्वारा उसे ऊपर ले जाय और उसमें घण्टानादके समान स्वर स्थिर करे। उस स्वरका ताँता टूटने न पावे ॥ ३४ ॥

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार ॐकारसहित प्राणायामका अभ्यास करे। ऐसा करनेसे एक महीनेके अंदर ही प्राणवायु वशमें हो जाता है ॥ ३५ ॥

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ ३६ ॥

इसके बाद ऐसा चिन्तन करे कि हृदय एक कमल है, वह शरीरके भीतर इस प्रकार स्थित है मानो उसकी डंडी तो ऊपरकी ओर है और मुँह नीचेकी ओर। अब ध्यान करना चाहिये कि उसका मुख ऊपरकी ओर होकर खिल गया है, उसके आठ दल (पँखुड़ियाँ) हैं और उनके बीचोबीच पीली-पीली अत्यन्त सुकुमार कर्णिका (गद्दी) है ॥ ३६ ॥

कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।
वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम् ॥ ३७ ॥

कर्णिकापर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका न्यास करना चाहिये। तदनन्तर अग्निके अंदर मेरे इस रूपका स्मरण करना चाहिये। मेरा यह स्वरूप ध्यानके लिये बड़ा ही मङ्गलमय है ॥ ३७ ॥

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्[1] ।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥ ३८ ॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥ ३९ ॥
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥ ४० ॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥ ४१ ॥

मेरे अवयवोंकी गठन बड़ी ही सुडौल है। रोम-रोमसे शान्ति टपकती है। मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित और सुन्दर है।

१. दीर्घबाहुं च ।

घुटनोंतक लंबी मनोहर चार भुजाएँ हैं। बड़ी ही सुन्दर और मनोहर गरदन है। मरकतमणिके समान सुस्निग्ध कपोल हैं। मुखपर मन्द-मन्द मुसकानकी अनोखी ही छटा है। दोनों ओरके कान बराबर हैं और उनमें मकराकृत कुण्डल झिलमिल-झिलमिल कर रहे हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है। श्रीवत्स एवं लक्ष्मीजीका चिह्न वक्षःस्थलपर दायें-बायें विराजमान है। हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए हैं। गलेमें वनमाला लटक रही है। चरणोंमें नूपुर शोभा दे रहे हैं, गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। अपने-अपने स्थानपर चमचमाते हुए किरीट, कंगन, करधनी और बाजूबंद शोभायमान हो रहे हैं, मेरा एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुन्दर एवं हृदयहारी है। सुन्दर मुख और प्यारभरी चितवन कृपा-प्रसादकी वर्षा कर रही है। उद्धव! मेरे इस सुकुमार रूपका ध्यान करना चाहिये और अपने मनको एक-एक अङ्गमें लगाना चाहिये ॥ ३८—४१ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥ ४२॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींच ले और मनको बुद्धिरूप सारथिकी सहायतासे मुझमें ही लगा दे, चाहे मेरे किसी भी अङ्गमें क्यों न लगे॥ ४२॥

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३॥

जब सारे शरीरका ध्यान होने लगे, तब अपने चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और अन्य अङ्गोंका चिन्तन न

करके केवल मन्द-मन्द मुसकानकी छटासे युक्त मेरे मुखका ही ध्यान करे॥ ४३ ॥

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

जब चित्त मुखारविन्दमें ठहर जाय, तब उसे वहाँसे हटाकर आकाशमें स्थिर करे। तदनन्तर आकाशका चिन्तन भी त्यागकर मेरे स्वरूपमें आरूढ़ हो जाय और मेरे सिवा किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे ॥ ४४ ॥

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥ ४५ ॥

जब इस प्रकार चित्त समाहित हो जाता है, तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योतिसे मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही अपनेमें मुझे और मुझ सर्वात्मामें अपनेको अनुभव करने लगता है ॥ ४५ ॥

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ ४६ ॥

जो योगी इस प्रकार तीव्र ध्यानयोगके द्वारा मुझमें ही अपने चित्तका संयम करता है, उसके चित्तसे वस्तुकी अनेकता, तत्सम्बन्धी ज्ञान और उनकी प्राप्तिके लिये होनेवाले कर्मोंका भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न सिद्धियोंके नाम और लक्षण

श्रीभगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! जब साधक इन्द्रिय, प्राण और मनको अपने वशमें करके अपना चित्त मुझमें लगाने लगता है, मेरी धारणा करने लगता है तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं ॥ १ ॥

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित् कथंस्वित् सिद्धिरच्युत ।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥ २ ॥

उद्धवजीने कहा—अच्युत ! कौन-सी धारणा करनेसे किस प्रकार कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और उनकी संख्या कितनी है, आप ही योगियोंको सिद्धियाँ देते हैं, अतः आप इनका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! धारणायोगके पारगामी योगियोंने अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं । उनमें आठ

सिद्धियाँ तो प्रधानरूपसे मुझमें ही रहती हैं और दूसरोंमें न्यून। और दस सत्त्वगुणके विकाससे भी मिल जाती हैं ॥ ३ ॥

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥ ४ ॥

उनमें तीन सिद्धियाँ तो शरीरकी हैं—'अणिमा', 'महिमा' और 'लघिमा'। इन्द्रियोंकी एक सिद्धि है—'प्राप्ति'। लौकिक और पारलौकिक पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव करनेवाली सिद्धि 'प्राकाम्य' है। माया और उसके कार्योंको इच्छानुसार सञ्चालित करना 'ईशिता' नामकी सिद्धि है ॥ ४ ॥

गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टौ चौत्पत्तिका मताः ॥ ५ ॥

विषयोंमें रहकर भी उनमें आसक्त न होना 'वशिता' है और जिस-जिस सुखकी कामना करे, उसकी सीमातक पहुँच जाना 'कामावसायिता' नामकी आठवीं सिद्धि है। ये आठों सिद्धियाँ मुझमें स्वभावसे ही रहती हैं और जिन्हें मैं देता हूँ, उन्हींको अंशतः प्राप्त होती हैं ॥ ५ ॥

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ६ ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ॥ ७ ॥

इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धियाँ हैं। शरीरमें भूख-प्यास आदि वेगोंका न होना, बहुत दूरकी वस्तु देख लेना और बहुत दूरकी

बात सुन लेना, मनके साथ ही शरीरका उस स्थानपर पहुँच जाना, जो इच्छा हो, वही रूप बना लेना; दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, जब इच्छा हो तभी शरीर छोड़ना, अप्सराओंके साथ होनेवाली देवक्रीड़ाका दर्शन, सङ्कल्पकी सिद्धि, सब जगह सबके द्वारा बिना ननु-नचके आज्ञा-पालन—ये दस सिद्धियाँ सत्त्वगुणके विशेष विकाससे होती हैं ॥६-७॥

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमानकी बात जान लेना; शीत-उष्ण, सुख-दुःख और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना, दूसरेके मन आदिकी बात जान लेना; अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिकी शक्तिको स्तम्भित कर देना और किसीसे भी पराजित न होना—ये पाँच सिद्धियाँ भी योगियोंको प्राप्त होती हैं ॥ ८ ॥

एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः।
यया धारणया या स्याद् यथा वा स्यान्निबोध मे ॥ ९ ॥

प्रिय उद्धव ! योग-धारणा करनेसे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका मैंने नाम-निर्देशके साथ वर्णन कर दिया। अब किस धारणा-से कौन-सी सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, यह बतलाता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥ १० ॥

प्रिय उद्धव ! पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मतम मात्राएँ मेरा ही शरीर हैं। जो साधक केवल मेरे उसी शरीरकी उपासना करता है और अपने मनको तदाकार बनाकर उसीमें लगा देता है अर्थात् मेरे तन्मात्रात्मक शरीरके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता,

उसे 'अणिमा' नामकी सिद्धि अर्थात् पत्थरकी चट्टान आदिमें भी प्रवेश करनेकी शक्ति—अणुता प्राप्त हो जाती है ॥ १० ॥

महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत्।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

महत्तत्त्वके रूपमें भी मैं ही प्रकाशित हो रहा हूँ और उस रूपमें समस्त व्यावहारिक ज्ञानोंका केन्द्र हूँ जो मेरे उस रूपमें अपने मनको महत्तत्त्वाकार करके तन्मय कर देता है, उसे 'महिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है, और इसी प्रकार आकाशादि पञ्चभूतोंमें—जो मेरे ही शरीर हैं—अलग-अलग मन लगानेसे उन-उनकी महत्ता प्राप्त हो जाती है, यह भी 'महिमा' सिद्धिके ही अन्तर्गत है ॥ ११ ॥

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन्।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

जो योगी वायु आदि चार भूतोंके परमाणुओंको मेरा ही रूप समझकर चित्तको तदाकार कर देता है, उसे 'लघिमा' सिद्धि प्राप्त हो जाती है—उसे परमाणुरूप कालके* समान सूक्ष्म वस्तु बननेका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम्।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥ १३ ॥

जो सात्त्विक अहङ्कारको मेरा स्वरूप समझकर मेरे उसी रूपमें चित्तकी धारणा करता है, वह समस्त इन्द्रियोंका अधिष्ठाता हो

---

* पृथ्वी आदिके परमाणुओंमें गुरुत्व विद्यमान रहता है। इसीसे उसका भी निषेध करनेके लिये कालके परमाणुकी समानता बतायी है।

जाता है। मेरा चिन्तन करनेवाला भक्त इस प्रकार 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि[1] मानसम्।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः॥ १४॥

जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपना चित्त स्थिर करता है, उसे मुझ अव्यक्तजन्मा (सूत्रात्मा) की 'प्राकाम्य' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है—जिससे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं ॥ १४ ॥

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्र[2]क्षेत्रज्ञचोदनाम्॥ १५॥

जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी मेरे काल-स्वरूप विश्वरूपकी धारणा करता है, वह शरीरों और जीवोंको अपने इच्छानुसार प्रेरित करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धिका नाम 'ईशित्व' है ॥ १५ ॥

नारायणे तुरीयाख्ये[3] भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद् योगी मद्धर्मा वशितामियात्॥ १६॥

जो योगी मेरे नारायण-स्वरूपमें—जिसे तुरीय और भगवान् भी कहते हैं—मनको लगा देता है, मेरे स्वाभाविक गुण उसमें प्रकट होने लगते हैं और उसे, 'वशिता' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १६ ॥

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥ १७॥

१. धारयन्। २. क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनात्। ३. तु तुर्याख्ये।

निर्गुण ब्रह्म भी मैं ही हूँ। जो अपना निर्मल मन मेरे इस ब्रह्मस्वरूपमें स्थित कर लेता है, उसे परमानन्द-स्वरूपिणी 'कामावसायिता' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है। इसके मिलनेपर उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं॥ १७॥

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि।
धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः॥ १८॥

प्रिय उद्धव! मेरा वह रूप, जो श्वेतद्वीपका स्वामी है, अत्यन्त शुद्ध और धर्ममय है। जो उसकी धारणा करता है, वह भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु और शोक-मोह—इन छः ऊर्मियोंसे मुक्त हो जाता है और उसे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होती है॥ १८॥

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ॥ १९॥

मैं ही समष्टि-प्राणरूप आकाशात्मा हूँ। जो मेरे इस स्वरूपमें मनके द्वारा अनाहत नादका चिन्तन करता है, वह 'दूरश्रवण' नामकी सिद्धिसे सम्पन्न हो जाता है और आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोली सुन-समझ सकता है॥ १९॥

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक्॥ २०॥

जो योगी नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त कर देता है और दोनोंके संयोगमें मन-ही-मन मेरा ध्यान करता है उसकी दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है, उसे 'दूरदर्शन' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है और वह सारे संसारको देख सकता है॥ २०॥

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः॥ २१॥

मन और शरीरको प्राणवायुके सहित मेरे साथ संयुक्त कर दे और मेरी धारणा करे तो इससे 'मनोजव' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके प्रभावसे वह योगी जहाँ भी जानेका संकल्प करता है, वहीं उसका शरीर उसी क्षण पहुँच जाता है॥ २१॥

यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति।
तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः॥ २२॥

जिस समय योगी मनको उपादान-कारण बनाकर किसी देवता आदिका रूप धारण करना चाहता है तो वह अपने मनके अनुकूल वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि उसने अपने चित्तको मेरे साथ जोड़ दिया है॥ २२॥

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत्॥ २३॥

जो योगी दूसरे शरीरमें प्रवेश करना चाहे, वह ऐसी भावना करे कि मैं उसी शरीरमें हूँ। ऐसा करनेसे उसका प्राण वायुरूप धारण कर लेता है। और वह एक फूलसे दूसरे फूलपर जानेवाले भौंरेके समान अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है॥ २३॥

पार्ष्ण्याऽऽपीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम्॥ २४॥

योगीको यदि शरीरका परित्याग करना हो तो एड़ीसे गुदा-द्वारको दबाकर प्राणवायुको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और

मस्तकमें ले जाय। फिर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्ममें लीन करके शरीरका परित्याग कर दे ॥ २४ ॥

विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत्।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः ॥ २५ ॥

यदि उसे देवताओंके विहारस्थलोंमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा हो, तो मेरे शुद्ध सत्त्वमय स्वरूपकी भावना करे। ऐसा करनेसे सत्त्व-गुणकी अंशस्वरूपा सुर-सुन्दरियाँ विमानपर चढ़कर उसके पास पहुँच जाती हैं ॥ २५ ॥

यथा संकल्पयेद् बुद्ध्या[1] यदा वा मत्परः पुमान्।
मयि सत्ये[2] मनो युञ्जंस्तथा तत् समुपाश्नुते ॥ २६ ॥

जिस पुरुषने मेरे सत्यसङ्कल्पस्वरूपमें अपना चित्त स्थिर कर दिया है, उसीके ध्यानमें संलग्न है, वह अपने मनसे जिस समय जैसा सङ्कल्प करता है, उसी समय उसका वह सङ्कल्प सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

यो वै मद्भावमापन्नो ईशितुर्वशितुः पुमान्।
कुतश्चिन्न[3] विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम ॥ २७ ॥

मैं 'ईशित्व' और 'वशित्व'—इन दोनों सिद्धियोंका स्वामी हूँ; इसलिये कभी कोई मेरी आज्ञा टाल नहीं सकता। जो मेरे उस रूपका चिन्तन करके उसी भावसे युक्त हो जाता है, मेरे समान उसकी आज्ञाको भी कोई टाल नहीं सकता ॥ २७ ॥

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य[4] योगिनो धारणाविदः।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ॥ २८ ॥

---

१. यथा। २. तत्त्वे। ३. न कुतश्चित्। ४. शुद्धतत्त्वस्य।

जिस योगीका चित्त मेरी धारणा करते-करते मेरी भक्तिके प्रभावसे शुद्ध हो गया है, उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयोंको भी जान लेती है। और तो क्या—भूत, भविष्य और वर्तमानकी सभी बातें उसे मालूम हो जाती हैं ॥ २८ ॥

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः ।
मद्योगश्रान्तचित्तस्य[1] यादसामुदकं यथा ॥ २९ ॥

जैसे जलके द्वारा जलमें रहनेवाले प्राणियोंका नाश नहीं होता, वैसे ही जिस योगीने अपना चित्त मुझमें लगाकर शिथिल कर दिया है, उसके योगमय शरीरको अग्नि, जल आदि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः[2] ।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः ॥ ३० ॥

जो पुरुष श्रीवत्स आदि चिह्न और शङ्ख-गदा-चक्र-पद्म आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा-छत्र-चँवर आदिसे सम्पन्न मेरे अवतारोंका ध्यान करता है, वह अजेय हो जाता है ॥ ३० ॥

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जो विचारशील पुरुष मेरी उपासना करता है और योगधारणाके द्वारा मेरा चिन्तन करता है, उसे वे सभी सिद्धियाँ पूर्णतः प्राप्त हो जाती हैं, जिनका वर्णन मैंने किया है ॥ ३१ ॥

१. मय्येव श्रा० । २. तम् ।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥ ३२ ॥

प्यारे उद्धव ! जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, जो संयमी है और मेरे ही स्वरूपकी धारणा कर रहा है, उसके लिये ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो। उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त ही हैं ॥ ३२ ॥

अन्तरायान् वदन्त्येतां[1] युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥ ३३ ॥

परन्तु श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जो लोग भक्तियोग अथवा ज्ञानयोगादि उत्तम योगोंका अभ्यास कर रहे हैं, जो मुझसे एक हो रहे हैं उनके लिये इन सिद्धियोंका प्राप्त होना एक विघ्न ही है; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ ही उनके समयका दुरुपयोग होता है ॥ ३३ ॥

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥ ३४ ॥

जगत्‌में जन्म, ओषधि, तपस्या और मन्त्रादिके द्वारा जितनी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सभी योगके द्वारा मिल जाती हैं; परन्तु योगकी अन्तिम सीमा—मेरे सारूप्य, सालोक्य आदिकी प्राप्ति बिना मुझमें चित्त लगाये किसी भी साधनसे नहीं प्राप्त हो सकती ॥ ३४ ॥

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३५ ॥

१. तान्।

ब्रह्मवादियोंने बहुत-से साधन बतलाये हैं—योग, सांख्य और धर्म आदि। उनका एवं समस्त सिद्धियोंका एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूँ ॥ ३५ ॥

अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥ ३६ ॥

जैसे स्थूल पञ्चभूतोंमें बाहर, भीतर—सर्वत्र सूक्ष्म पञ्च-महाभूत ही हैं, सूक्ष्म भूतोंके अतिरिक्त स्थूल भूतोंकी कोई सत्ता ही नहीं है, वैसे ही मैं समस्त प्राणियोंके भीतर द्रष्टारूपसे और बाहर दृश्यरूप-से स्थित हूँ। मुझमें बाहर-भीतरका भेद भी नहीं है, क्योंकि मैं निरावरण, एक—अद्वितीय आत्मा हूँ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम्।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥ १ ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः।
उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप स्वयं परब्रह्म हैं, न आपका आदि है और न अन्त। आप आवरणरहित अद्वितीय तत्त्व हैं। समस्त प्राणियों और पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति, रक्षा और प्रलयके कारण भी आप ही हैं। आप ऊँचे-नीचे सभी प्राणियोंमें स्थित हैं; परन्तु जिन लोगोंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वे आपको नहीं जान सकते। आपकी यथोचित उपासना तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही करते हैं ॥ १-२ ॥

येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आपके जिन रूपों और विभूतियोंकी परम भक्तिके साथ उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं, वह आप मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ॥ ४ ॥

समस्त प्राणियोंके जीवनदाता प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, आप उनमें अपनेको गुप्त रखकर लीला करते रहते हैं। आप तो सबको देखते हैं, परन्तु जगत्के प्राणी आपकी मायासे ऐसे मोहित हो रहे हैं कि वे आपको नहीं देख पाते ॥ ४ ॥

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥

अचिन्त्य ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो ! पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशा-विदिशाओंमें आपके प्रभावसे युक्त जो-जो भी विभूतियाँ हैं, आप कृपा करके मुझसे उनका वर्णन कीजिये । प्रभो ! मैं आपके उन चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो समस्त तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले हैं ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! तुम प्रश्नका मर्म समझनेवालोंमें शिरोमणि हो । जिस समय कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय शत्रुओंसे युद्धके लिये तत्पर अर्जुनने मुझसे यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम् ।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥ ७ ॥

अर्जुनके मनमें ऐसी धारणा हुई कि कुटुम्बियोंको मारना और सो भी राज्यके लिये बहुत ही निन्दनीय अधर्म है । साधारण पुरुषोंके समान वह यह सोच रहा था कि 'मैं मारनेवाला हूँ और ये सब मरनेवाले हैं ।' यह सोचकर वह युद्धसे उपरत हो गया ॥ ७ ॥

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः ।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥

तब मैंने रणभूमिमें बहुत-सी युक्तियाँ देकर वीर-शिरोमणि

अर्जुनको समझाया था। उस समय अर्जुनने भी मुझसे यही प्रश्न किया था, जो तुम कर रहे हो ॥ ८ ॥

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥ ९ ॥

उद्धवजी ! मैं समस्त प्राणियोंका आत्मा, हितैषी, सुहृद् और ईश्वर–नियामक हूँ। मैं ही इन समस्त प्राणियों और पदार्थोंके रूपमें हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कारण भी हूँ ॥ ९ ॥

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम् ।
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥ १० ॥

गतिशील पदार्थोंमें मैं गति हूँ। अपने अधीन करनेवालोंमें मैं काल हूँ। गुणोंमें मैं उनकी मूलस्वरूपा साम्यावस्था हूँ और जितने भी गुणवान् पदार्थ हैं, उनमें उनका स्वाभाविक गुण हूँ ॥ १० ॥

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥ ११ ॥

गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं क्रियाशक्तिप्रधान प्रथम कार्य सूत्रात्मा हूँ और महानोंमें ज्ञानशक्तिप्रधान प्रथम कार्य महत्तत्त्व हूँ। सूक्ष्म वस्तुओंमें मैं जीव हूँ और कठिनाईसे वशमें होनेवालोंमें मन हूँ ॥ ११ ॥

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम् ॥ १२ ॥

मैं वेदोंका अभिव्यक्तिस्थान हिरण्यगर्भ हूँ और मन्त्रोंमें तीन

मात्राओं (अ + उ + म) वाला ओंकार हूँ। मैं अक्षरोंमें अकार, छन्दोंमें त्रिपदा गायत्री हूँ ॥ १२ ॥

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट्।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः॥ १३ ॥

समस्त देवताओंमें इन्द्र, आठ वसुओंमें अग्नि, द्वादश आदित्योंमें विष्णु और एकादश रुद्रोंमें नीललोहित नामक रुद्र हूँ॥ १३ ॥

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु॥ १४ ॥

मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु, देवर्षियोंमें नारद और गौओंमें कामधेनु हूँ ॥ १४ ॥

सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्त्रिणाम्।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥ १५ ॥

मैं सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड़, प्रजापतियोंमें दक्ष प्रजापति और पितरोंमें अर्यमा हूँ ॥ १५ ॥

मां विद्धयुद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम्।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम्[1] ॥ १६ ॥

प्रिय उद्धव ! मैं दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, ओषधियोंमें सोमरस एवं यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर हूँ—ऐसा समझो ॥ १६ ॥

ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम्।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम्॥ १७ ॥

मैं गजराजोंमें ऐरावत, जलनिवासियोंमें उनका प्रभु वरुण,

[1] १. मपि।

तपने और चमकनेवालोंमें सूर्य तथा मनुष्योंमें राजा हूँ ॥ १७ ॥

उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम् ।
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ १८ ॥

मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सोना, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि हूँ ॥ १८ ॥

नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम् ।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ[1] ॥ १९ ॥

निष्पाप उद्धवजी ! मैं नागराजोंमें शेषनाग, सींग और दाढ़वाले प्राणियोंमें उनका राजा सिंह, आश्रमोंमें संन्यास और वर्णोंमें ब्राह्मण हूँ ॥ १९ ॥

तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् ।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम् ॥ २० ॥

मैं तीर्थ और नदियोंमें गङ्गा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र-शस्त्रोंमें धनुष तथा धनुर्धरोंमें त्रिपुरारि शङ्कर हूँ ॥ २० ॥

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः ।
वनस्पतीनामश्वत्थ[2] ओषधीनामहं यवः[3] ॥ २१ ॥

मैं निवासस्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्पतियोंमें पीपल और धान्योंमें जौ हूँ ॥ २१ ॥

पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः ।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां[4] भगवानजः ॥ २२ ॥

मैं पुरोहितोंमें वसिष्ठ, वेदवेत्ताओंमें बृहस्पति, समस्त सेना-

१. प्रथमो ह्यहम् । २. मश्वत्थम् । ३. यवाः । ४. सर्वसेनानामग्रणीर्भग० ।

पतियोंमें स्वामिकार्तिक और सन्मार्गप्रवर्तकोंमें भगवान् ब्रह्मा हूँ ॥ २२ ॥

यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम्।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ॥ २३ ॥

पञ्चमहायज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय-यज्ञ) हूँ, व्रतोंमें अहिंसाव्रत और शुद्ध करनेवाले पदार्थोंमें नित्यशुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी एवं आत्मा हूँ ॥ २३ ॥

योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम्।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम् ॥२४॥

आठ प्रकारके योगोंमें मैं मनोनिरोधरूप समाधि हूँ। विजयके इच्छुकोंमें रहनेवाला मैं मन्त्र (नीति) बल हूँ, कौशलोंमें आत्मा और अनात्माका विवेकरूप कौशल तथा ख्यातिवादियोंमें विकल्प हूँ ॥ २४ ॥

स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम् ॥ २५ ॥

मैं स्त्रियोंमें मनुपत्नी शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार हूँ ॥ २५ ॥

धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः।
गुह्यानां सूनृतं[1] मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥ २६ ॥

मैं धर्मोंमें कर्मसंन्यास अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदानरूप सच्चा संन्यास हूँ, अभयके साधनोंमें आत्म-

१. सौनृतम्।

स्वरूपका अनुसन्धान हूँ, अभिप्राय-गोपनके साधनोंमें मधुरवचन एवं मौन हूँ और स्त्री-पुरुषके जोड़ोंमें मैं प्रजापति हूँ—जिनके शरीरके दो भागोंसे पुरुष और स्त्रीका पहला जोड़ा पैदा हुआ ॥ २६ ॥

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित् ॥ २७ ॥

सदा सावधान रहकर जागनेवालोंमें संवत्सररूप काल मैं हूँ, ऋतुओंमें वसन्त, महीनोंमें मार्गशीर्ष और नक्षत्रोंमें अभिजित् हूँ ॥ २७ ॥

अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः ।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान् ॥ २८ ॥

मैं युगोंमें सत्ययुग, विवेकियोंमें महर्षि देवल और असित, व्यासोंमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास तथा कवियोंमें मनस्वी शुक्राचार्य हूँ ॥ २८ ॥

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
किम्पुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥ २९ ॥

सृष्टिकी उत्पत्ति और लय, प्राणियोंके जन्म और मृत्यु तथा विद्या और अविद्याके जाननेवाले भगवानोंमें (विशिष्ट महापुरुषोंमें) मैं वासुदेव हूँ। मेरे प्रेमी भक्तोंमें तुम (उद्धव), किम्पुरुषोंमें हनुमान्, विद्याधरोंमें सुदर्शन (जिसने अजगरके रूपमें नन्दबाबाको ग्रस लिया था और फिर भगवान्‌के पादस्पर्शसे मुक्त हो गया था) मैं हूँ ॥ २९ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।'

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम् ।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम् ॥३०॥

रत्नोंमें पद्मराग (लाल), सुन्दर वस्तुओंमें कमलकी कली, तृणोंमें कुश और हविष्योंमें गायका घी हूँ ॥ ३० ॥

व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३१॥

मैं व्यापारियोंमें रहनेवाली लक्ष्मी, छल-कपट करनेवालोंमें द्यूतक्रीडा, तितिक्षुओंकी तितिक्षा (कष्टसहिष्णुता) और सात्त्विक पुरुषोंमें रहनेवाला सत्त्वगुण हूँ ॥ ३१ ॥

ओजः सहो बलवतां कर्माहं[1] विद्धि सात्वताम् ।
सात्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥३२॥

मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम तथा भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्म हूँ । वैष्णवोंकी पूज्य वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा—इन नौ मूर्तियोंमें मैं पहली एवं श्रेष्ठ मूर्ति वासुदेव हूँ ॥ ३२ ॥

[2]विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥३३॥

मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें ब्रह्माजीके दरबारकी अप्सरा पूर्वचित्ति हूँ । पर्वतोंमें स्थिरता और पृथ्वीमें शुद्ध अविकारी गन्ध मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः ।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥३४॥

१. कामः । २. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध नहीं है ।

मैं जलमें रस, तेजस्वियोंमें परम तेजस्वी अग्नि; सूर्य, चन्द्र और तारोंमें प्रभा तथा आकाशमें उसका एकमात्र गुण शब्द हूँ ॥ ३४ ॥

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः ॥३५॥

उद्धवजी ! मैं ब्राह्मणभक्तोंमें बलि, वीरोंमें अर्जुन और प्राणियोंमें उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हूँ ॥ ३५ ॥

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम् ।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥३६॥

मैं ही पैरोंमें चलनेकी शक्ति, वाणीमें बोलनेकी शक्ति, पायुमें मल-त्यागकी शक्ति, हाथोंमें पकड़नेकी शक्ति और जननेन्द्रियमें आनन्दोपभोगकी शक्ति हूँ। त्वचामें स्पर्शकी, नेत्रोंमें दर्शनकी, रसनामें स्वाद लेनेकी, कानोंमें श्रवणकी और नासिकामें सूँघनेकी शक्ति भी मैं ही हूँ। समस्त इन्द्रियोंकी इन्द्रिय-शक्ति मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं[1] रजः सत्त्वं तमः परम् ॥३७॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहङ्कार, महत्तत्त्व, पञ्चमहाभूत, जीव, अव्यक्त, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और उनसे परे रहनेवाला ब्रह्म—ये सब मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ।
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥३८॥

१. ऽव्यक्तो ।

इन तत्त्वोंकी गणना, लक्षणोंद्वारा उनका ज्ञान तथा तत्त्व-ज्ञान रूप उसका फल भी मैं ही हूँ। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही जीव हूँ, मैं ही गुण हूँ और मैं ही गुणी हूँ। मैं ही सबका आत्मा हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं भी नहीं है ॥ ३८ ॥

संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥ ३९ ॥

यदि मैं गिनने लगूँ तो किसी समय परमाणुओंकी गणना तो कर सकता हूँ, परन्तु अपनी विभूतियोंकी गणना नहीं कर सकता। क्योंकि जब मेरे रचे हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी भी गणना नहीं हो सकती, तब मेरी विभूतियोंकी गणना तो हो ही कैसे सकती है ॥ ३९ ॥

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥ ४० ॥

ऐसा समझो कि जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है ॥ ४० ॥

एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥ ४१ ॥

उद्धवजी ! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन किया। ये सब परमार्थ-वस्तु नहीं हैं, मनोविकारमात्र हैं, क्योंकि मनसे सोची और वाणीसे कही हुई कोई भी वस्तु परमार्थ (वास्तविक) नहीं होती। उसकी एक कल्पना ही होती है ॥ ४१ ॥

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान्[1] यच्छेन्द्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥ ४२ ॥

इसलिये तुम वाणीको स्वच्छन्दभाषणसे रोको, मनके सङ्कल्प-विकल्प बंद करो । इसके लिये प्राणोंको वशमें करो और इन्द्रियोंका दमन करो । सात्त्विक बुद्धिके द्वारा प्रपञ्चाभिमुख बुद्धिको शान्त करो । फिर तुम्हें संसारके जन्म-मृत्युरूप बीहड़ मार्गमें भटकना नहीं पड़ेगा ॥ ४२ ॥

यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः ।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ४३ ॥

जो साधक बुद्धिके द्वारा वाणी और मनको पूर्णतया वशमें नहीं कर लेता, उसके व्रत, तप और दान—उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जैसे कच्चे घड़ेमें भरा हुआ जल ॥ ४३ ॥

तस्मान्मनोवचःप्राणान्[2] नियच्छेन्मत्परायणः ।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥ ४४ ॥

इसलिये मेरे प्रेमी भक्तको चाहिये कि मेरे परायण होकर भक्तियुक्त बुद्धिसे वाणी, मन और प्राणोंका संयम करे । ऐसा कर लेनेपर फिर उसे कुछ करना शेष नहीं रहता । वह कृतकृत्य हो जाता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

१. प्राणम् । २. वचांमनःप्राणान् ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥
तथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तंत् समाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण ! आपने पहले वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवालोंके लिये और सामान्यतः मनुष्यमात्रके लिये उस धर्मका उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है । अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकारसे अपने धर्मका अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणोंमें उसे भक्ति प्राप्त हो जाय ॥ १-२ ॥

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो ।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥ ३ ॥

प्रभो ! महाबाहु माधव ! पहले आपने हंसरूपसे अवतार ग्रहण करके ब्रह्माजीको अपने परमधर्मका उपदेश किया था ॥ ३ ॥

स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन ।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥

रिपुदमन ! बहुत समय बीत जानेके कारण वह इस समय

---

१. तन्ममा० ।

मर्त्यलोकमें प्रायः नहीं-सा रह गया है; क्योंकि आपको उसका उपदेश किये बहुत दिन हो गये हैं ॥ ४ ॥

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि ।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५ ॥

अच्युत ! पृथ्वीमें तथा ब्रह्माकी उस सभामें भी, जहाँ सम्पूर्ण वेद मूर्तिमान् होकर विराजमान रहते हैं, आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है जो आपके इस धर्मका प्रवचन, प्रवर्तन अथवा संरक्षण कर सके ॥ ५ ॥

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन ।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥

इस धर्मके प्रवर्तक, रक्षक और उपदेशक आप ही हैं। आपने पहले जैसे मधु दैत्यको मारकर वेदोंकी रक्षा की थी, वैसे ही अपने धर्मकी भी रक्षा कीजिये । स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! जब आप पृथ्वीतलसे अपनी लीला संवरण कर लेंगे, तब तो इस धर्मका लोप ही हो जायगा तो फिर उसे कौन बतावेगा ? ॥ ६ ॥

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७ ॥

आप समस्त धर्मोंके मर्मज्ञ हैं; इसलिये प्रभो ! आप उस धर्मका वर्णन कीजिये, जो आपकी भक्ति प्राप्त करानेवाला है और यह भी बतलाइये कि किसके लिये उसका कैसा विधान है ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः ।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥

१. तत्त्वतः सर्व० ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब इस प्रकार भक्तशिरोमणि उद्धवजीने प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर प्राणियोंके कल्याणके लिये उन्हें सनातन धर्मोंका उपदेश किया ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् ।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है; क्योंकि इससे वर्णाश्रमधर्मी मनुष्योंको परमकल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है । अतः मैं तुम्हें उन धर्मोंका उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ ९ ॥

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जा[1]त्या तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥ १० ॥

जिस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ था और पहला सत्ययुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्योंका 'हंस' नामक एक ही वर्ण था । उस युगमें सब लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे; इसीलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है ॥ १० ॥

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ ११ ॥

उस समय केवल प्रणव ही वेद था और तपस्या, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणोंसे युक्त मैं ही वृषभरूपधारी धर्म था । उस

१. यस्मात् ।

समयके निष्पाप एवं परमतपस्वी भक्तजन मुझ हंसस्वरूप शुद्ध परमात्माकी उपासना करते थे ॥ ११ ॥

त्रेतामुखे[1] महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या[2] अहमासं त्रिवृन्मखः॥ १२॥

परम भाग्यवान् उद्धव ! सत्ययुगके बाद त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर मेरे हृदयसे श्वास-प्रश्वासके द्वारा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदरूप त्रयीविद्या प्रकट हुई और उस त्रयीविद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्मरूप तीन भेदोंवाले यज्ञके रूपसे मैं प्रकट हुआ ॥ १२ ॥

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥ १३॥

विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, भुजासे क्षत्रिय, जंघासे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई। उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरणसे होती है ॥ १३ ॥

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद्[3] वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः॥ १४॥

उद्धवजी ! विराट् पुरुष भी मैं ही हूँ; इसलिये मेरे ही उरुस्थलसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थाश्रम और मस्तकसे संन्यासाश्रमकी उत्पत्ति हुई है ॥ १४ ॥

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः[4]।
आसन्[5] प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥ १५॥

---

१. त्रेतायुगे। २. तत्र। ३. वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः। ४. चारिणीः। ५. आसन् वै गतयो नृणां।

इन वर्ण और आश्रमोंके पुरुषोंके स्वभाव भी इनके जन्मस्थानोंके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हो गये। अर्थात् उत्तम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवाले वर्ण और आश्रमोंके स्वभाव उत्तम और अधम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवालोंके अधम हुए ॥ १५ ॥

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १६ ॥

शम, दम, तपस्या, पवित्रता, संतोष, क्षमाशीलता, सीधापन, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मणवर्णके स्वभाव हैं ॥ १६ ॥

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १७ ॥

तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मणभक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय-वर्णके स्वभाव हैं ॥ १७ ॥

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्[1] ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १८ ॥

आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धनसञ्चयसे सन्तुष्ट न होना—ये वैश्यवर्णके स्वभाव हैं ॥ १८ ॥

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १९ ॥

ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र-वर्णके स्वभाव हैं ॥ १९ ॥

---

१. विप्रसेवनम् ।

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च[1] स्वभावोऽन्तेवसायिनाम्[2] ॥ २० ॥

अपवित्रता, झूठ बोलना, चोरी करना, ईश्वर और परलोककी परवा न करना, झूठ-मूठ झगड़ना और काम, क्रोध एवं तृष्णाके वशमें रहना—ये अन्त्यजोंके स्वभाव हैं ॥ २० ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ २१ ॥

उद्धवजी ! चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करें; सत्यपर दृढ़ रहें; चोरी न करें; काम, क्रोध तथा लोभसे बचें और जिन कामोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता और उनका भला हो वही करें ॥ २१ ॥

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः[3] ॥ २२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके गुरुकुलमें रहे और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रक्खे । आचार्यके बुलानेपर वेदका अध्ययन करे और उसके अर्थका भी विचार करे ॥ २२ ॥

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत् ॥ २३ ॥

मेखला, मृगचर्म, वर्णके अनुसार दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत और कमण्डलु धारण करे । सिरपर जटा रक्खे, शौकीनीके

---

१. हर्षश्च । २. न्त्यावसायिनाम् । ३. चाह्यतः ।

लिये दाँत और वस्त्र न धोवे, रंगीन आसनपर न बैठे और कुश धारण करे ॥ २३ ॥

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे[1] च वाग्यतः।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥ २४ ॥

स्नान, भोजन, हवन, जप और मल-मूत्र-त्यागके समय मौन रहे और कक्ष तथा गुप्तेन्द्रियके बाल और नाखूनोंको कभी न काटे ॥ २४ ॥

रेतो नावकिरेज्जातु[2] ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत् ॥ २५ ॥

पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करे। स्वयं तो कभी वीर्यपात करे ही नहीं। यदि स्वप्न आदिमें वीर्यस्खलित हो जाय, तो जलमें स्नान करके प्राणायाम करे एवं गायत्रीका जप करे ॥ २५ ॥

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्ध[3]सुराञ्छुचिः।
समाहित उपासीत संध्ये च यतवाग् जपन् ॥ २६ ॥

ब्रह्मचारीको पवित्रताके साथ एकाग्रचित्त होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना करनी चाहिये तथा सायंकाल और प्रातःकाल मौन होकर सन्ध्योपासन एवं गायत्रीका जप करना चाहिये ॥ २६ ॥

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥ २७ ॥

आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न

---

१. मन्त्रोच्चारे। २. न विकिरेत्। ३. वृद्धान् सुरानपि।

करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोषदृष्टि न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है ॥ २७ ॥

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥ २८ ॥

सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षामें मिले वह लाकर गुरुदेवके आगे रख दे। केवल भोजन ही नहीं, जो कुछ हो सब। तदनन्तर उनके आज्ञानुसार बड़े संयमसे भिक्षा आदिका यथोचित उपयोग करे ॥ २८ ॥

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥ २९ ॥

आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे चले, उनके सो जानेके बाद बड़ी सावधानीसे उनसे थोड़ी दूरपर सोवे। थके हों, तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पासमें ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त छोटे व्यक्तिकी भाँति सेवा-शुश्रूषाके द्वारा सदा-सर्वदा आचार्यकी आज्ञामें तत्पर रहे ॥ २९ ॥

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद् व्रतमखण्डितम् ॥ ३० ॥

जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाय, तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर इसी प्रकार गुरुकुलमें निवास करे और कभी अपना ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित न होने दे ॥ ३० ॥

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद्[1] देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥ ३१ ॥

यदि ब्रह्मचारीका विचार हो कि मैं मूर्तिमान् वेदोंके निवासस्थान ब्रह्मलोकमें जाऊँ, तो उसे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लेना चाहिये और वेदोंके स्वाध्यायके लिये अपना सारा जीवन आचार्यकी सेवामें ही समर्पित कर देना चाहिये ॥ ३१ ॥

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥ ३२ ॥

ऐसा ब्रह्मचारी सचमुच ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो जाता है और उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उसे चाहिये कि अग्नि, गुरु, अपने शरीर और समस्त प्राणियोंमें मेरी ही उपासना करे और यह भाव रक्खे कि मेरे तथा सबके हृदयमें एक ही परमात्मा विराजमान है ॥ ३२ ॥

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥ ३३ ॥

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंको चाहिये कि वे स्त्रियोंको देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूरसे ही त्याग दें; मैथुन करते हुए प्राणियोंपर तो दृष्टिपाततक न करें ॥ ३३ ॥

शौचमाचमनं स्नानं [2]संध्योपासनमार्जवम्।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ॥ ३४ ॥

१. च न्यसेद्देहम्। २. सन्ध्योपास्तिर्ममार्चनम्।

सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः॥ ३५॥

प्रिय उद्धव! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीरका संयम—यह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—सभीके लिये एक-सा नियम है। अस्पृश्योंको न छूना, अभक्ष्य वस्तुओंको न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिये उनसे न बोलना—ये नियम भी सबके लिये हैं॥ ३४-३५॥

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥ ३६॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण इन नियमोंका पालन करनेसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्याके कारण उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है॥ ३६॥

अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथा जिज्ञासितागमः।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः॥ ३७॥

प्यारे उद्धव! यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करनेकी इच्छा न हो—गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता हो, तो विधिपूर्वक वेदाध्ययन समाप्त करके आचार्यको दक्षिणा देकर और उनकी अनुमति लेकर समावर्तन-संस्कार करावे—स्नातक बनकर ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ दे॥ ३७॥

गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद् वा द्विजोत्तमः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्॥ ३८॥

ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। यदि ब्राह्मण हो तो संन्यास भी ले सकता है। अथवा उसे चाहिये कि क्रमशः एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करे। किन्तु मेरा आज्ञाकारी भक्त बिना आश्रमके रहकर अथवा विपरीत क्रमसे आश्रम-परिवर्तन कर स्वेच्छाचारमें न प्रवृत्त हो॥ ३८॥

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनु क्रमात्॥ ३९॥

प्रिय उद्धव! यदि ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करना हो तो ब्रह्मचारीको चाहिये कि अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न कुलीन कन्यासे विवाह करे। वह अवस्थामें अपनेसे छोटी और अपने ही वर्णकी होनी चाहिये। यदि कामवश अन्य वर्णकी कन्यासे और विवाह करना हो, तो क्रमशः अपनेसे निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है॥ ३९॥

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥ ४०॥

यज्ञ-यागादि अध्ययन और दान करनेका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंको समानरूपसे है। परन्तु दान लेने, पढ़ाने और यज्ञ करानेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही है॥ ४०॥

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा[1] दोषदृक् तयोः॥ ४१॥

१. शिल्पैः।

ब्राह्मणको चाहिये कि इन तीनों वृत्तियोंमें प्रतिग्रह अर्थात् दान लेनेकी वृत्तिको तपस्या, तेज और यशका नाश करनेवाली समझकर पढ़ाने और यज्ञ करानेके द्वारा ही अपना जीवननिर्वाह करे और यदि इन दोनों वृत्तियोंमें भी दोषदृष्टि हो—परावलम्बन, दीनता आदि दोष दीखते हों—तो अन्न कटनेके बाद खेतोंमें पड़े हुए दाने बीनकर ही अपने जीवनका निर्वाह कर ले ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥ ४२ ॥

उद्धव ! ब्राह्मणका शरीर अत्यन्त दुर्लभ है । यह इसलिये नहीं है कि इसके द्वारा तुच्छ विषय-भोग ही भोगे जायँ । यह तो जीवनपर्यन्त कष्ट भोगने, तपस्या करने और अन्तमें अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करनेके लिये है ॥ ४२ ॥

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठ-
न्नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥ ४३ ॥

जो ब्राह्मण घरमें रहकर अपने महान् धर्मका निष्कामभावसे पालन करता है और खेतोंमें तथा बाजारोंमें गिरे-पड़े दाने चुनकर सन्तोषपूर्वक अपने जीवनका निर्वाह करता है, साथ ही अपना शरीर, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा मुझे समर्पित कर देता है और कहीं भी अत्यन्त आसक्ति नहीं करता, वह बिना संन्यास लिये ही परमशान्तिस्वरूप परमपद प्राप्त कर लेता है ॥ ४३ ॥

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम् ।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥४४॥

जो लोग विपत्तिमें पड़े कष्ट पा रहे मेरे भक्त ब्राह्मणको विपत्तियोंसे बचा लेते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही समस्त आपत्तियोंसे उसी प्रकार बचा लेता हूँ, जैसे समुद्रमें डूबते हुए प्राणीको नौका बचा लेती है ॥ ४४ ॥

सर्वाः समुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः ।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥४५॥

राजा पिताके समान सारी प्रजाका कष्टसे उद्धार करे—उन्हें बचावे, जैसे गजराज दूसरे गजोंकी रक्षा करता है और धीर होकर स्वयं अपने आपसे अपना उद्धार करे ॥ ४५ ॥

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा ।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥४६॥

जो राजा इस प्रकार प्रजाकी रक्षा करता है, वह सारे पापोंसे मुक्त होकर अन्त समयमें सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकमें जाता है और इन्द्रके साथ सुख भोगता है ॥ ४६ ॥

सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।
खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथंचन ॥४७॥

यदि ब्राह्मण अध्यापन अथवा यज्ञ-यागादिसे अपनी जीविका न चला सके, तो वैश्य-वृत्तिका आश्रय ले ले, और जबतक विपत्ति दूर न हो जाय तबतक करे। यदि बहुत बड़ी आपत्तिका सामना करना हो तो तलवार उठाकर क्षत्रियोंकी वृत्तिसे भी अपना काम

चला ले, परन्तु किसी भी अवस्थामें नीचोंकी सेवा—जिसे 'श्वानवृत्ति' कहते हैं—न करे ॥ ४७ ॥

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि ।
चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथंचन ॥४८॥

इसी प्रकार यदि क्षत्रिय भी प्रजापालन आदिके द्वारा अपने जीवनका निर्वाह न कर सके तो वैश्यवृत्ति व्यापार आदि कर ले। बहुत बड़ी आपत्ति हो तो शिकारके द्वारा अथवा विद्यार्थियोंको पढ़ाकर अपनी आपत्तिके दिन काट दे, परन्तु नीचोंकी सेवा, 'श्वानवृत्ति' का आश्रय कभी न ले ॥ ४८ ॥

शूद्रवृत्तिं[1] भजेद् वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम्[2] ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥४९॥

वैश्य भी आपत्तिके समय शूद्रोंकी वृत्ति सेवासे अपना जीवन-निर्वाह कर ले और शूद्र चटाई बुनने आदि कारुवृत्तिका आश्रय ले ले, परन्तु उद्धव ! ये सारी बातें आपत्तिकालके लिये ही हैं। आपत्तिका समय बीत जानेपर निम्नवर्णोंकी वृत्तिसे जीविकोपार्जन करनेका लोभ न करे ॥ ४९ ॥

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥५०॥

गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरूप पितृयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, काकबलि आदि भूतयज्ञ और अन्नदानरूप अतिथियज्ञ आदिके द्वारा मेरे स्वरूपभूत ऋषि, देवता,

१. शूद्रवृत्तिर्भजेद्वैश्यः। २. कारुकटक्रियः।

पितर, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करता रहे ॥ ५० ॥

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून् ॥५१॥

गृहस्थ पुरुष अनायास प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त रीतिसे उपार्जित अपने शुद्ध धनसे अपने भृत्य, आश्रित प्रजाजनको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाते हुए न्याय और विधिके साथ ही यज्ञ करे ॥ ५१ ॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥५२॥

प्रिय उद्धव ! गृहस्थ पुरुष कुटुम्बमें आसक्त न हो । बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी भजनमें प्रमाद न करे । बुद्धिमान् पुरुषको यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जैसे इस लोककी सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं वैसे ही स्वर्गादि परलोकके भोग भी नाशवान् ही हैं ॥ ५२ ॥

पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥५३॥

यह जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनोंका मिलना-जुलना है, यह वैसा ही है, जैसे किसी प्याऊपर कुछ बटोही इकट्ठे हो गये हों । सबको अलग-अलग रास्ते जाना है । जैसे स्वप्न नींद टूटनेतक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलनेवालोंका सम्बन्ध ही बस, शरीरके रहनेतक ही रहता है; फिर तो कौन किसको पूछता है ॥ ५३ ॥

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥५४॥

गृहस्थको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थीमें फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्तभावसे रहे मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो। जो शरीर आदिमें अहङ्कार और घर आदिमें ममता नहीं करता, उसे घर-गृहस्थीके फंदे बाँध नहीं सकते ॥५४॥

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत् ॥५५॥

भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करता हुआ घरमें ही रहे, अथवा यदि पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रममें चला जाय या संन्यासाश्रम स्वीकार कर ले ॥५५॥

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥५६॥

प्रिय उद्धव! जो लोग इस प्रकारका गृहस्थजीवन न बिताकर घर-गृहस्थीमें ही आसक्त हो जाते हैं, स्त्री, पुत्र और धनकी कामनाओं-में फँसकर हाय-हाय करते रहते और मूढ़तावश स्त्रीलम्पट और कृपण होकर मैं-मेरेके फेरमें पड़ जाते हैं, वे बँध जाते हैं ॥ ५६ ॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥५७॥

वे सोचते रहते हैं—'हाय! हाय! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गये; पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये दीन, अनाथ और दुखी हो जायँगे; फिर इनका जीवन कैसे रहेगा? ॥ ५७ ॥

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार घर-गृहस्थीकी वासनासे जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढबुद्धि पुरुष विषयभोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता, उन्हींमें उलझकर अपना जीवन खो बैठता है और मरकर घोर तमोमय नरकमें जाता है ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! यदि गृहस्थ मनुष्य वानप्रस्थ आश्रममें जाना चाहे, तो अपनी पत्नीको पुत्रोंके हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ ही ले ले और फिर शान्त चित्तसे अपनी आयुका तीसरा भाग वनमें ही रहकर व्यतीत करे ॥ १ ॥

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥ २ ॥

उसे वनके पवित्र कन्द-मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करना चाहिये; वस्त्रकी जगह वृक्षोंकी छाल पहिने अथवा घास-पात और मृगछालासे ही काम निकाल ले ॥ २ ॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतः ।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः ॥ ३ ॥

केश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढ़ीरूप शरीरके मलको हटावे नहीं । दातुन न करे । जलमें घुसकर त्रिकाल स्नान करे और धरतीपर ही पड़ रहे ॥ ३ ॥

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड् जले ।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवंवृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥

ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि तपे, वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें रहकर वर्षाकी बौछार सहे । जाड़ेके दिनोंमें गलेतक जलमें डूबा रहे । इस प्रकार घोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करे ॥ ४ ॥

अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा ।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥ ५ ॥

कन्द-मूलोंको केवल आगमें भूनकर खा ले अथवा समयानुसार पके हुए फल आदिके द्वारा ही काम चला ले। उन्हें कूटनेकी आवश्यकता हो तो ओखलीमें या सिलपर कूट ले, अन्यथा दाँतोंसे ही चबा-चबाकर खा ले ॥ ५ ॥

स्वयं संचिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाऽऽहृतम् ॥ ६ ॥

१. लोम ।

वानप्रस्थाश्रमीको चाहिये कि कौन-सा पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये, कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—इन बातोंको जानकर अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वयं ही सब प्रकारके कन्द-मूल-फल आदि ले आवे। देश-काल आदिसे अनभिज्ञ लोगोंसे लाये हुए अथवा दूसरे समयके सञ्चित पदार्थोंको अपने काममें न ले* ॥ ६ ॥

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्[1] ।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥ ७ ॥

नीवार आदि जंगली अन्नसे ही चरु-पुरोडाश आदि तैयार करे और उन्हींसे समयोचित आग्रयण आदि वैदिक कर्म करे। वानप्रस्थ हो जानेपर वेदविहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे ॥ ७ ॥

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च[2] पूर्ववत् ।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥ ८ ॥

वेदवेत्ताओंने वानप्रस्थीके लिये अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य आदिका वैसा ही विधान किया है, जैसा गृहस्थोंके लिये है ॥ ८ ॥

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसंततः ।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ ९ ॥

---

* अर्थात् मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं, स्वयं ही नवीन-नवीन कन्द-मूल-फल आदिका सञ्चय करे। देश-कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये हुए अथवा कालान्तरमें सञ्चय किये हुए पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशंका है।

१. कालचोदितम्। २. पौर्णमासः।

इस प्रकार घोर तपस्या करते-करते मांस सूख जानेके कारण वानप्रस्थीकी एक-एक नस दीखने लगती है। वह इस तपस्याके द्वारा मेरी आराधना करके पहले तो ऋषियोंके लोकमें जाता है और वहाँसे फिर मेरे पास आ जाता है; क्योंकि तप मेरा ही स्वरूप है ॥ ९ ॥

यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद् बालिशः कोऽपरस्ततः ॥ १० ॥

प्रिय उद्धव ! जो पुरुष बड़े कष्टसे किये हुए और मोक्ष देनेवाले इस महान् तपस्याको स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि छोटे-मोटे फलोंकी प्राप्तिके लिये करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ? इसलिये तपस्याका अनुष्ठान निष्कामभावसे ही करना चाहिये ॥ १० ॥

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥ ११ ॥

प्यारे उद्धव ! वानप्रस्थी जब अपने आश्रमोचित नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय, बुढ़ापेके कारण उसका शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्नियोंको भावनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें आरोपित कर ले और अपना मन मुझमें लगाकर अग्निमें प्रवेश कर जाय। (यह विधान केवल उनके लिये है, जो विरक्त नहीं हैं) ॥ ११ ॥

यदा कर्म[1]विपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायते स[2]म्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥ १२ ॥

यदि उसकी समझमें यह बात आ जाय कि काम्य कर्मोंसे उनके फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, वे नरकोंके समान ही

१. धर्मविपाकेषु । २. ह्रस्य ।

दुःखपूर्ण हैं और मनमें लोक-परलोकसे पूरा वैराग्य हो जाय तो विधिपूर्वक यज्ञाग्नियोंका परित्याग करके संन्यास ले ले ॥ १२ ॥

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ।
अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ १३ ॥

जो वानप्रस्थी संन्यासी होना चाहे, वह पहले वेदविधिके अनुसार आठों प्रकारके श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञसे मेरा यजन करे। इसके बाद अपना सर्वस्व ऋत्विजको दे दे। यज्ञाग्नियोंको अपने प्राणोंमें लीन कर ले और फिर किसी भी स्थान, वस्तु और व्यक्तियोंकी अपेक्षा न रखकर स्वच्छन्द विचरण करे ॥ १३ ॥

विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः ।
विघ्नान्[1] कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम् ॥ १४ ॥

उद्धवजी ! जब ब्राह्मण संन्यास लेने लगता है, तब देवतालोग स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धियोंका रूप धारण करके उसके संन्यास-ग्रहणमें विघ्न डालते हैं। वे सोचते हैं कि 'अरे ! यह तो हमलोगोंकी अवहेलना कर, हम लोगोंको लाँघकर परमात्माको प्राप्त होने जा रहा है' ॥ १४ ॥

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किंचिदनापदि ॥ १५ ॥

यदि संन्यासी वस्त्र धारण करे तो केवल लँगोटी लगा ले और अधिक-से-अधिक उसके ऊपर एक ऐसा छोटा-सा टुकड़ा लपेट ले कि जिसमें लँगोटी ढक जाय तथा आश्रमोचित दण्ड और कमण्डलुके

१. विघ्नम् ।

अतिरिक्त और कोई भी वस्तु अपने पास न रक्खे । यह नियम आपत्तिकालको छोड़कर सदाके लिये है ॥ १५ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्[1] ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १६ ॥

नेत्रोंसे धरती देखकर पैर रक्खे, कपड़ेसे छानकर जल पिये, मुँहसे प्रत्येक बात सत्यपूत—सत्यसे पवित्र हुई ही निकाले और शरीरसे जितने भी काम करे, बुद्धिपूर्वक—सोच-विचार कर ही करे ॥ १६ ॥

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥ १७ ॥

वाणीके लिये मौन, शरीरके लिये निश्चेष्ट स्थिति और मनके लिये प्राणायाम दण्ड हैं । जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं हैं, वह केवल शरीरपर बाँसके दण्ड धारण करनेसे दण्डी स्वामी नहीं हो जाता ॥ १७ ॥

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत् ।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥ १८ ॥

संन्यासीको चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा ले । केवल अनिश्चित सात घरोंसे जितना मिल जाय, उतनेसे ही सन्तोष कर ले ॥ १८ ॥

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥ १९ ॥

---

[1] १. जलं पिबेत् ।

इस प्रकार भिक्षा लेकर बस्तीके बाहर जलाशयपर जाय, वहाँ हाथ-पैर धोकर जलके द्वारा भिक्षा पवित्र कर ले; फिर शास्त्रोक्त पद्धतिसे जिन्हें भिक्षाका भाग देना चाहिये, उन्हें देकर जो कुछ बचे उसे मौन होकर खा ले। दूसरे समयके लिये बचाकर न रक्खे और न अधिक माँगकर ही लाये ॥ १९ ॥

एकश्चरेन्महीमेतां निस्सङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥ २०॥

संन्यासीको पृथ्वीपर अकेले ही विचरना चाहिये। उसकी कहीं भी आसक्ति न हो; सब इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। वह अपने-आपमें ही मस्त रहे, आत्म-प्रेममें ही तन्मय रहे, प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी धैर्य रक्खे और सर्वत्र समानरूपसे स्थित परमात्माका अनुभव करता रहे ॥ २० ॥

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः॥ २१॥

संन्यासीको निर्जन और निर्भय एकान्त-स्थानमें रहना चाहिये। उसका हृदय निरन्तर मेरी भावनासे विशुद्ध बना रहे। वह अपने-आपको मुझसे अभिन्न और अद्वितीय, अखण्डके रूपमें चिन्तन करे ॥ २१ ॥

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः॥ २२॥

वह अपनी ज्ञाननिष्ठासे चित्तके बन्धन और मोक्षपर विचार करे तथा निश्चय करे कि इन्द्रियोंका विषयोंके लिये विक्षिप्त होना—चञ्चल होना बन्धन है और उनको संयममें रखना ही मोक्ष है ॥ २२ ॥

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत् ॥ २३ ॥

इसलिये संन्यासीको चाहिये कि मन एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको जीत ले, भोगोंकी क्षुद्रता समझकर उनकी ओरसे सर्वथा मुँह मोड़ ले और अपने-आपमें ही परम आनन्दका अनुभव करे । इस प्रकार वह मेरी भावनासे भरकर पृथ्वीमें विचरता रहे ॥ २३ ॥

पुरग्रामव्रजान् सार्थान्[1] भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥ २४ ॥

केवल भिक्षाके लिये ही नगर, गाँव, अहीरोंकी बस्ती या यात्रियोंकी टोलीमें जाय । पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन और आश्रमोंसे पूर्ण पृथ्वीमें बिना कहीं ममता जोड़े घूमता-फिरता रहे ॥ २४ ॥

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥ २५ ॥

भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके आश्रमसे ही ग्रहण करे । क्योंकि कटे हुए खेतोंके दानेसे बनी हुई भिक्षा शीघ्र ही चित्तको शुद्ध कर देती है और उससे बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २५ ॥

नैतद् वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति ।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥ २६ ॥

विचारवान् संन्यासी दृश्यमान जगत्‌को सत्य वस्तु कभी न समझे; क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही नाशवान् है । इस जगत्‌में कहीं

1. सर्वान् ।

भी अपने चित्तको लगाये नहीं। इस लोक और परलोकमें जो कुछ करने-पानेकी इच्छा हो, उससे विरक्त हो जाय ॥ २६ ॥

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत् ॥ २७ ॥

संन्यासी विचार करे कि आत्मामें जो मन, वाणी और प्राणोंका सङ्घातरूप यह जगत् है, वह सारा-का-सारा माया ही है। इस विचारके द्वारा इसका बाध करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर कभी उसका स्मरण भी न करे ॥ २७ ॥

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ २८ ॥

ज्ञाननिष्ठ, विरक्त मुमुक्षु और मोक्षकी भी अपेक्षा न रखनेवाला मेरा भक्त आश्रमोंकी मर्यादामें बद्ध नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नोंको छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्रके विधि-निषेधोंसे परे होकर स्वच्छन्द विचरे ॥ २८ ॥

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥ २९ ॥

वह बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान खेले। निपुण होकर भी जडवत् रहे, विद्वान् होकर भी पागलकी तरह बातचीत करे और समस्त वेद-विधियोंका जानकार होकर भी पशुवृत्तिसे (अनियत आचारवान्) रहे ॥ २९ ॥

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः ।
शुष्कवादविवादे न कंचित् पक्षं समाश्रयेत् ॥ ३० ॥

उसे चाहिये कि वेदोंके कर्मकाण्ड-भागकी व्याख्यामें न लगे, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्कसे बचे और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न ले ॥ ३० ॥

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥ ३१ ॥

वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मनमें किसी भी प्राणीसे उद्वेग न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणीको उद्विग्न न करे। उसकी कोई निन्दा करे, तो प्रसन्नतासे सह ले; किसीका अपमान न करे। प्रिय उद्धव ! संन्यासी इस शरीरके लिये किसीसे भी वैर न करे। ऐसा वैर तो पशु करते हैं ॥ ३१ ॥

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥ ३२ ॥

जैसे एक ही चन्द्रमा जलसे भरे हुए विभिन्न पात्रोंमें अलग-अलग दिखायी देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंमें और अपनेमें भी स्थित है। सबकी आत्मा तो एक है ही, पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीर भी सबके एक ही हैं, क्योंकि सब पाञ्चभौतिक ही तो हैं। (ऐसी अवस्थामें किसीसे भी वैर-विरोध करना अपना ही वैर-विरोध है) ॥ ३२ ॥

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥ ३३ ॥

प्रिय उद्धव ! संन्यासीको किसी दिन यदि समयपर भोजन न

मिले, तो उसे दुखी नहीं होना चाहिये और यदि बराबर मिलता रहे, तो हर्षित न होना चाहिये। उसे चाहिये कि वह धैर्य रक्खे। मनमें हर्ष और विषाद दोनों प्रकारके विकार न आने दे; क्योंकि भोजन मिलना और न मिलना दोनों ही प्रारब्धके अधीन हैं ॥ ३३ ॥

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते ॥ ३४ ॥

भिक्षा अवश्य माँगनी चाहिये, ऐसा करना उचित ही है; क्योंकि भिक्षासे ही प्राणोंकी रक्षा होती है। प्राण रहनेसे ही तत्त्वका विचार होता है और तत्त्वविचारसे तत्त्वज्ञान होकर मुक्ति मिलती है ॥ ३४ ॥

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम्।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥ ३५ ॥

संन्यासीको प्रारब्धके अनुसार अच्छी या बुरी—जैसी भी भिक्षा मिल जाय, उसीसे पेट भर ले। वस्त्र और बिछौने भी जैसे मिल जायँ, उन्हींसे काम चला ले। उनमें अच्छेपन या बुरेपनकी कल्पना न करे ॥ ३५ ॥

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥ ३६ ॥

जैसे मैं परमेश्वर होनेपर भी अपनी लीलासे ही शौच आदि शास्त्रोक्त नियमोंका पालन करता हूँ, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी शौच, आचमन, स्नान और दूसरे नियमोंका लीलासे ही आचरण

करे। वह शास्त्रविधिके अधीन होकर—विधिकिङ्कर होकर न करे ॥ ३६ ॥

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता।
आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया ॥ ३७ ॥

क्योंकि ज्ञाननिष्ठ पुरुषको भेदकी प्रतीति ही नहीं होती। जो पहले थी, वह भी मुझ सर्वात्माके साक्षात्कारसे नष्ट हो गयी। यदि कभी-कभी मरणपर्यन्त बाधित भेदकी प्रतीति भी होती है, तब भी देहपात हो जानेपर वह मुझसे एक हो जाता है ॥ ३७ ॥

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्[1] ॥ ३८ ॥

उद्धवजी! (यह तो हुई ज्ञानवान्की बात, अब केवल वैराग्यवान्की बात सुनो)। जितेन्द्रिय पुरुष, जब यह निश्चय हो जाय कि संसारके विषयोंके भोगका फल दुःख-ही-दुःख है, तब वह विरक्त हो जाय और यदि वह मेरी प्राप्तिके साधनोंको न जानता हो तो भगवच्चिन्तनमें तन्मय रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी शरण ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥ ३९ ॥

वह गुरुकी दृढ़ भक्ति करे, श्रद्धा रक्खे और उनमें दोष कभी न निकाले। जबतक ब्रह्मका ज्ञान हो, तबतक बड़े आदरसे मुझे ही गुरुके रूपमें समझता हुआ उनकी सेवा करे ॥ ३९ ॥

---

1. प्रव्रजेत्।

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ ४० ॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥ ४१ ॥

किन्तु जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन—इन छहोंपर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथी बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदयमें न ज्ञान है और न तो वैराग्य, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासीका वेष धारणकर पेट पालता है तो वह संन्यासधर्मका सत्तानाश ही कर रहा है और अपने पूज्य देवताओंको, अपने-आपको और अपने हृदयमें स्थित मुझको ठगनेकी चेष्टा करता है। अभी उस वेषमात्रके संन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं; इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनोंसे हाथ धो बैठता है ॥ ४०-४१ ॥

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः[1] ।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ ४२ ॥

संन्यासीका मुख्य धर्म है—शान्ति और अहिंसा। वानप्रस्थीका मुख्य धर्म है—तपस्या और भगवद्भाव। गृहस्थका मुख्य धर्म है—प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ-याग तथा ब्रह्मचारीका मुख्य धर्म है—आचार्यकी सेवा ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥ ४३ ॥

गृहस्थ भी केवल ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीका सहवास करे।

१. वनौकसाम् ।

उसके लिये भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभाव—ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभीको करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ॥ ४४ ॥

जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभावसे अपने वर्णाश्रमधर्मके द्वारा मेरी सेवामें लगा रहता है और समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करता रहता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ४४ ॥

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥ ४५ ॥

उद्धवजी! मैं सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र स्वामी, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका परम कारण ब्रह्म हूँ। नित्य-निरन्तर बढ़नेवाली अखण्ड भक्तिके द्वारा वह मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो नचिरात् समुपैति माम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वह गृहस्थ अपने धर्मपालनके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करके मेरे ऐश्वर्यको—मेरे स्वरूपको जान लेता है और ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥ ४७ ॥

मैंने तुम्हें यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म बतलाया है। यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका पुट लग जाय, तब तो इससे अनायास ही परम कल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ॥ ४७ ॥

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम् ।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम् ॥ ४८ ॥

साधुस्वभाव उद्धव ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया और यह बतला दिया कि अपने धर्मका पालन करनेवाला भक्त मुझ परब्रह्मस्वरूपको किस प्रकार प्राप्त होता है ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

भक्ति, ज्ञान और यम-नियमादि साधनोंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः ।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! जिसने उपनिषदादि शास्त्रोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ है, जिसका निश्चय केवल युक्तियों और अनुमानोंपर ही निर्भर नहीं करता, दूसरे शब्दोंमें—जो केवल परोक्षज्ञानी नहीं है, वह यह जानकर कि सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च और इसकी निवृत्तिका साधन विज्ञान मायामात्र है, उन्हें मुझमें लीन कर दे, वे दोनों ही मुझ आत्मामें अध्यस्त हैं, ऐसा जान ले ॥ १ ॥

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः ।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुषका अभीष्ट पदार्थ मैं ही हूँ, उसके साधन-साध्य स्वर्ग और अपवर्ग भी मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी भी पदार्थसे वह प्रेम नहीं करता ॥ २ ॥

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः[1] पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥ ३ ॥

जो ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न सिद्धपुरुष हैं, वे ही मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं । इसीलिये ज्ञानी पुरुष मुझे सबसे प्रिय है । उद्धवजी ! ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा निरन्तर मुझे अपने अन्तःकरणमें धारण करता है ॥ ३ ॥

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं[2] या ज्ञानकलया कृता ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञानके लेशमात्रका उदय होनेसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह तपस्या, तीर्थ, जप, दान अथवा अन्तःकरणशुद्धिके और किसी भी साधनसे पूर्णतया नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥ ५ ॥

इसलिये मेरे प्यारे उद्धव ! तुम ज्ञानके सहित अपने आत्म-स्वरूपको जान लो और फिर ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर भक्तिभावसे मेरा भजन करो ॥ ५ ॥

---

१. सम्बद्धाः । २. शुद्धिम् ।

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वाऽऽत्मानमात्मनि ।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥

बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने अन्तःकरणमें मुझ सब यज्ञोंके अधिपति आत्माका यजन करके परम सिद्धि प्राप्त की है ॥ ६ ॥

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७ ॥

उद्धव ! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन विकारोंकी समष्टि ही शरीर है और वह सर्वथा तुम्हारे आश्रित है । यह पहले नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा; केवल बीचमें ही दीख रहा है । इसलिये इसे जादूके खेलके समान माया ही समझनी चाहिये । इसके जो जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना—ये छः भावविकार हैं, इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । यही नहीं, ये विकार उसके भी नहीं हैं; क्योंकि वह स्वयं असत् है । असत् वस्तु तो पहले नहीं थी, बादमें भी नहीं रहेगी, इसलिये बीचमें भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता ॥ ७ ॥

उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥

उद्धवजीने कहा—विश्वरूप परमात्मन् ! आप ही विश्वके स्वामी हैं । आपका यह वैराग्य और विज्ञानसे युक्त सनातन एवं विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकार सुदृढ़ हो जाय, उसी प्रकार मुझे स्पष्ट करके समझाइये और उस अपने भक्तियोगका भी वर्णन कीजिये, जिसे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ढूँढ़ा करते हैं, ॥ ८ ॥

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥

मेरे स्वामी ! जो पुरुष इस संसारके विकट मार्गमें तीनों तापोंके थपेड़े खा रहे हैं और भीतर-बाहर जल-भुन रहे हैं, उनके लिये आपके अमृतवर्षी युगल चरणारविन्दोंकी छत्र-छायाके अतिरिक्त और कोई भी आश्रय नहीं दीखता ॥ ९ ॥

दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥ १० ॥

महानुभाव ! आपका यह अपना सेवक अँधेरे कुएँमें पड़ा हुआ है, कालरूपी सर्पने इसे डस रक्खा है, फिर भी विषयोंके क्षुद्र, सुखभोगोंकी तीव्र तृष्णा मिटती नहीं, बढ़ती ही जा रही है।

१. प्राचीन प्रतिमें श्लोक ९ 'तापत्रयेणा' ''से ११ वें श्लोकके पूर्वार्द्ध ' ''धर्मभृतां वरम् ।' तकका पाठ नहीं है ।

आप कृपा करके इसका उद्धार कीजिये और इससे मुक्त करनेवाली वाणीकी सुधा-धारासे इसे सराबोर कर दीजिये ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् ।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है, यही प्रश्न धर्मराज युधिष्ठिरने धार्मिकशिरोमणि भीष्मपितामहसे किया था। उस समय हम सभी लोग वहाँ विद्यमान थे ॥ ११ ॥

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ।
श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥ १२ ॥

जब भारतीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था और धर्मराज युधिष्ठिर अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके संहारसे शोक-विह्वल हो रहे थे, तब उन्होंने भीष्मपितामहसे बहुत-से धर्मोंका विवरण सुननेके पश्चात् मोक्षके साधनोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया था ॥ १२ ॥

तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान् ।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान्[1] ॥ १३ ॥

उस समय भीष्मपितामहके मुखसे सुने हुए मोक्ष-धर्म मैं तुम्हें सुनाऊँगा । क्योंकि वे ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, श्रद्धा और भक्तिके भावोंसे परिपूर्ण हैं ॥ १३ ॥

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥ १४ ॥

---

१. ज्ञानविज्ञानवैराग्य० ।

उद्धवजी ! जिस ज्ञानसे प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—ये नौ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—ये ग्यारह, पाँच महाभूत और तीन गुण अर्थात् इन अट्ठाईस तत्त्वोंको ब्रह्मासे लेकर तृणतक सम्पूर्ण कार्योंमें देखा जाता है और इनमें भी एक परमात्म-तत्त्वको अनुगतरूपसे देखा जाता है—वह परोक्षज्ञान है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १४ ॥

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥१५॥

जब जिस एक तत्त्वसे अनुगत एकात्मक तत्त्वोंको पहले देखता था, उनको पहलेके समान न देखे, किन्तु एक परम कारण ब्रह्मको ही देखे । तब, यही निश्चित विज्ञान (अपरोक्षज्ञान) कहा जाता है । (इस ज्ञान और विज्ञानको प्राप्त करनेकी युक्ति यह है कि) यह शरीर आदि जितने भी त्रिगुणात्मक सावयव पदार्थ हैं, उनकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयका विचार करे ॥ १५ ॥

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥ १६ ॥

जो तत्त्ववस्तु सृष्टिके प्रारम्भमें और अन्तमें कारणरूपसे स्थित रहती है, वही मध्यमें भी रहती है और वही प्रतीयमान कार्यसे प्रतीयमान कार्यान्तरमें अनुगत भी होती है। फिर उन कार्योंका प्रलय अथवा बाध होनेपर उसके साक्षी एवं अधिष्ठानरूपसे शेष रह जाती है । वही सत्य परमार्थ वस्तु है, ऐसा समझे ॥ १६ ॥

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते ॥ १७ ॥

श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (महापुरुषोंमें प्रसिद्धि) और अनुमान—प्रमाणोंमें यह चार मुख्य हैं। इनकी कसौटीपर कसनेसे दृश्य-प्रपञ्च अस्थिर, नश्वर एवं विकारी होनेके कारण सत्य सिद्ध नहीं होता, इसलिये विवेकी पुरुष इस विविध कल्पनारूप अथवा शब्दमात्र प्रपञ्चसे विरक्त हो जाता है ॥ १७ ॥

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ १८ ॥

विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्वर्गादि फल देनेवाले यज्ञादि कर्मोंके परिणामी—नश्वर होनेके कारण ब्रह्मलोकपर्यन्त स्वर्गादि सुख—अदृष्टको भी इस प्रत्यक्ष विषय-सुखके समान ही अमङ्गल, दुःखदायी एवं नाशवान् समझे ॥ १८ ॥

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥ १९ ॥

निष्पाप उद्धवजी ! भक्तियोगका वर्णन मैं तुम्हें पहले ही सुना चुका हूँ; परन्तु उसमें तुम्हारी बहुत प्रीति है, इसलिये मैं तुम्हें फिरसे भक्ति प्राप्त होनेका श्रेष्ठ साधन बतलाता हूँ ॥ १९ ॥

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ २० ॥

जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी कथामें श्रद्धा रक्खे; निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामोंका सङ्कीर्तन करे; मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रक्खे और स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति करे ॥ २० ॥

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ २१ ॥

मेरी सेवा-पूजामें प्रेम रक्खे और सामने साष्टाङ्ग लोटकर प्रणाम करे; मेरे भक्तोंकी पूजा मेरी पूजासे बढ़कर करे और समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे ॥ २१ ॥

मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ २२ ॥

अपने एक-एक अङ्गकी चेष्टा केवल मेरे ही लिये करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे तथा सारी कामनाएँ छोड़ दे ॥ २२ ॥

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥ २३ ॥

मेरे लिये धन, भोग और प्राप्त सुखका भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय, वह सब मेरे लिये ही करे ॥ २३ ॥

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ २४ ॥

उद्धवजी ! जो मनुष्य इन धर्मोंका पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्म-निवेदन कर देते हैं, उनके हृदयमें मेरी प्रेममयी भक्तिका उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसके लिये और किस दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता है ? ॥ २४ ॥

यदाऽऽत्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् ।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥ २५ ॥

इस प्रकारके धर्मोंका पालन करनेसे चित्तमें जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और वह शान्त होकर आत्मामें लग जाता है । उस समय साधकको धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

यदर्पितं तद् विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

यह संसार विविध कल्पनाओंसे भरपूर है । सच पूछो तो इसका नाम तो है, किन्तु कोई वस्तु नहीं है । जब चित्त इसमें लगा दिया जाता है, तब इन्द्रियोंके साथ इधर-उधर भटकने लगता है । इस प्रकार चित्तमें रजोगुणकी बाढ़ आ जाती है, वह असत् वस्तुमें लग जाता है और उसके धर्म, ज्ञान आदि तो लुप्त हो ही जाते हैं, वह अधर्म, अज्ञान और मोहका भी घर बन जाता है ॥ २६ ॥

धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥ २७ ॥

उद्धव ! जिससे मेरी भक्ति हो, वही धर्म है; जिससे ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार हो, वही ज्ञान है; विषयोंसे असङ्ग—निर्लेप रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं ॥ २७ ॥

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन ।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥ २८ ॥

---

१. वा प्रपद्यते ।

उद्धवजीने कहा—रिपुसूदन ! यम और नियम कितने प्रकारके हैं ? श्रीकृष्ण ! शम क्या है ? दम क्या है ? प्रभो ! तितिक्षा और धैर्य क्या है ? ॥ २८ ॥

किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते ।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥ २९ ॥

आप मुझे दान, तपस्या, शूरता, सत्य और ऋतका भी स्वरूप बतलाइये । त्याग क्या है ? अभीष्ट धन कौन-सा है ? यज्ञ किसे कहते हैं ? और दक्षिणा क्या वस्तु है ? ॥ २९ ॥

पुंसः किंस्विद् बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव ।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥ ३० ॥

श्रीमान् केशव ! पुरुषका सच्चा बल क्या है ? भग किसे कहते हैं और लाभ क्या वस्तु है ? उत्तम विद्या, लज्जा, श्री तथा सुख और दुःख क्या हैं ? ॥ ३० ॥

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम् ॥ ३१ ॥

पण्डित और मूर्खके लक्षण क्या हैं ? सुमार्ग और कुमार्गका क्या लक्षण है ? स्वर्ग और नरक क्या हैं ? भाई-बन्धु किसे मानना चाहिये और घर क्या है ? ॥ ३१ ॥

क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥ ३२ ॥

धनवान् और निर्धन किसे कहते हैं ? कृपण कौन है ? और ईश्वर किसे कहते हैं ? भक्तवत्सल प्रभो ! आप मेरे इन प्रश्नोंका

उत्तर दीजिये और साथ ही इनके विरोधी भावोंकी भी व्याख्या कीजिये ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥ ३३ ॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ ३४ ॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥ ३५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'यम' बारह हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असङ्गता, लज्जा, असञ्चय (आवश्यकतासे अधिक धन आदि न जोड़ना), आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय । नियमोंकी संख्या भी बारह ही हैं—शौच (बाहरी पवित्रता और भीतरी पवित्रता), जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथिसेवा, मेरी पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चेष्टा, सन्तोष और गुरुसेवा—इस प्रकार 'यम' और 'नियम' दोनोंकी संख्या बारह-बारह है । ये सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके साधकोंके लिये उपयोगी हैं । उद्धवजी ! जो पुरुष इनका पालन करते हैं, वे यम और नियम उनके इच्छानुसार उन्हें भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करते हैं ॥ ३३-३५ ॥

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥ ३६ ॥

बुद्धिका मुझमें लग जाना ही 'शम' है। इन्द्रियोंके संयमका नाम 'दम' है। न्यायसे प्राप्त दुःखके सहनेका नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करना 'धैर्य' है॥ ३६॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः [1]शौर्यं सत्यं च समदर्शनम्॥ ३७॥

किसीसे द्रोह न करना, सबको अभय देना 'दान' है। कामनाओंका त्याग करना ही 'तप' है। अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त करना ही 'शूरता' है। सर्वत्र समस्वरूप, सत्यस्वरूप परमात्माका दर्शन ही 'सत्य' है॥ ३७॥

ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते॥ ३८॥

इसी प्रकार सत्य और मधुर भाषणको ही महात्माओंने 'ऋत' कहा है। कर्मोंमें आसक्त न होना ही 'शौच' है। कामनाओंका त्याग ही सच्चा 'संन्यास' है॥ ३८॥

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परं बलम्॥ ३९॥

धर्म ही मनुष्योंका अभीष्ट 'धन' है। मैं परमेश्वर ही 'यज्ञ' हूँ। ज्ञानका उपदेश देना ही 'दक्षिणा' है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'बल' है॥ ३९॥

भगो म [2]ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।
विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु॥ ४०॥

---

१. सत्यं शौर्यं च। २. महेश्वरो।

मेरा ऐश्वर्य ही 'भग' है, मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है, सच्ची 'विद्या' वही है जिससे ब्रह्म और आत्माका भेद मिट जाता है। पाप करनेसे घृणा होनेका नाम ही 'लज्जा' है ॥ ४० ॥

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ॥४१॥

निरपेक्षता आदि गुण ही शरीरका सच्चा सौन्दर्य—'श्री' है, दुःख और सुख दोनोंकी भावनाका सदाके लिये नष्ट हो जाना ही 'सुख' है। विषयभोगोंकी कामना ही 'दुःख' है। जो बन्धन और मोक्षका तत्त्व जानता है, वही 'पण्डित' है ॥ ४१ ॥

मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥४२॥
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥४३॥

शरीर आदिमें जिसका मैंपन है, वही 'मूर्ख' है। जो संसार-की ओरसे निवृत्त करके मुझे प्राप्त करा देता है, वही सच्चा 'सुमार्ग' है। चित्तकी बहिर्मुखता ही 'कुमार्ग' है। सत्त्वगुणकी वृद्धि ही 'स्वर्ग' और सखे ! तमोगुणकी वृद्धि ही 'नरक' है। गुरु ही सच्चा 'भाई-बन्धु' है और वह गुरु मैं हूँ। यह मनुष्य-शरीर ही सच्चा 'घर' है तथा सच्चा 'धनी' वह है, जो गुणोंसे सम्पन्न है, जिसके पास गुणोंका खजाना है ॥ ४२-४३ ॥

दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ॥४४॥

जिसके चित्तमें असन्तोष है, अभावका बोध है, वही 'दरिद्र' है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही 'कृपण' है। समर्थ, स्वतन्त्र और 'ईश्वर' वह है जिसकी चित्तवृत्ति विषयोंमें आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयोंमें आसक्त है, वही सर्वथा 'असमर्थ' है ॥ ४४ ॥

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥४५॥

प्यारे उद्धव ! तुमने जितने प्रश्न पूछे थे, उनका उत्तर मैंने दे दिया; इनको समझ लेना मोक्ष-मार्गके लिये सहायक है। मैं तुम्हें गुण और दोषोंका लक्षण अलग-अलग कहाँतक बताऊँ ? सबका सारांश इतनेमें ही समझ लो कि गुणों और दोषोंपर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है और गुण-दोषोंपर दृष्टि न जाकर अपने शान्त निःसङ्कल्प स्वरूपमें स्थित रहे—वही सबसे बड़ा गुण है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण! आप सर्वशक्तिमान् हैं। आपकी आज्ञा ही वेद है; उसमें कुछ कर्मोंको करनेकी विधि है और कुछके करनेका निषेध है। यह विधि-निषेध कर्मोंके गुण और दोषकी परीक्षा करके ही तो होता है ॥ १ ॥

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।
द्रव्यदेशवयःकालान् स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥

वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोम और अनुलोमरूप वर्णसंकर, कर्मोंके उपयुक्त और अनुपयुक्त द्रव्य, देश, आयु और काल तथा स्वर्ग और नरकके भेदोंका बोध भी वेदोंसे ही होता है ॥ २ ॥

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव ।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि आपकी वाणी ही वेद है, परन्तु उसमें विधि-निषेध ही तो भरा पड़ा है। यदि उसमें गुण और दोषमें भेद करनेवाली दृष्टि न हो, तो वह प्राणियोंका कल्याण करनेमें समर्थ ही कैसे हो? ॥ ३ ॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४ ॥

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! आपकी वाणी वेद ही पितर, देवता और मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ मार्ग दर्शकका काम करता है, क्योंकि उसीके द्वारा स्वर्ग-मोक्ष आदि अदृष्ट वस्तुओंका बोध होता है और इस लोकमें भी किसका कौन-सा साध्य है और क्या साधन—इसका निर्णय भी उसीसे होता है ॥ ४ ॥

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते नहि स्वतः ।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः ॥ ५ ॥

प्रभो ! इसमें सन्देह नहीं कि गुण और दोषोंमें भेददृष्टि आपकी वाणी वेदके ही अनुसार है, किसीकी अपनी कल्पना नहीं, परन्तु प्रश्न तो यह है कि आपकी वाणी ही भेदका निषेध भी करती है । यह विरोध देखकर मुझे भ्रम हो रहा है । आप कृपा करके मेरा यह भ्रम मिटाइये ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारि-भेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है । वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है ॥ ६ ॥

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ ७ ॥

उद्धवजी ! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है; उनमें दुःखबुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं ॥ ७ ॥

---

१. नियमात् । २. नियमेना० ।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ ८ ॥

जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है ॥ ८ ॥

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९ ॥

कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥ १० ॥

उद्धव ! इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें स्थित रहकर यज्ञोंके द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मोंसे दूर रहकर केवल विहित कर्मोंका ही आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता ॥ १० ॥

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥ ११ ॥

अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला पुरुष इस शरीरमें रहते-रहते

ही निषिद्ध कर्मका परित्याग कर देता है और रागादि मलोंसे भी मुक्त—पवित्र हो जाता है। इसीसे अनायास ही उसे आत्मसाक्षात्कार-रूप विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुत-चित्त होनेपर मेरी भक्तिप्राप्त होती है ॥ ११ ॥

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥१२॥
न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति ॥१३॥

यह विधि-निषेधरूप कर्मका अधिकारी मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। स्वर्ग और नरक दोनों ही लोकोंमें रहनेवाले जीव इसकी अभिलाषा करते रहते हैं; क्योंकि इसी शरीरमें अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञान अथवा भक्तिकी प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग अथवा नरकका भोगप्रधान शरीर किसी भी साधनके उपयुक्त नहीं है। बुद्धिमान् पुरुषको न तो स्वर्गकी अभिलाषा करनी चाहिये और न नरककी ही। और तो क्या, इस मनुष्य-शरीरकी भी कामना न करनी चाहिये; क्योंकि किसी भी शरीरमें गुणबुद्धि और अभिमान हो जानेसे अपने वास्तविक स्वरूपकी प्राप्तिके साधनमें प्रमाद होने लगता है ॥ १२-१३ ॥

एतद्[1] विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥१४॥

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो मृत्युग्रस्त ही; परन्तु इसके द्वारा परमार्थकी—सत्य वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। बुद्धिमान्

---

१. एवं।

पुरुषको चाहिये कि यह बात जानकर मृत्यु होनेके पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले, जिससे वह जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाय—मुक्त हो जाय ॥ १४ ॥

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥१५॥

यह शरीर एक वृक्ष है। इसमें घोंसला बनाकर जीवरूप पक्षी निवास करता है। इसे यमराजके दूत प्रतिक्षण काट रहे हैं। जैसे पक्षी कटते हुए वृक्षको छोड़कर उड़ जाता है, वैसे ही अनासक्त जीव भी इस शरीरको छोड़कर मोक्षका भागी बन जाता है। परन्तु आसक्त जीव दुःख ही भोगता रहता है ॥ १५ ॥

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः ।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥१६॥

प्रिय उद्धव! ये दिन और रात क्षण-क्षणमें शरीरकी आयुको क्षीण कर रहे हैं। यह जानकर जो भयसे काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर इसके जीवन-मरणसे निरपेक्ष होकर अपने आत्मामें ही शान्त हो जाता है ॥ १६ ॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥ १७ ॥

यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है

और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका सञ्चालन करने लगते हैं और स्मरणमात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है ॥ १७ ॥

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥१८॥

प्रिय उद्धव! जब पुरुष दोषदर्शनके कारण कर्मोंसे उद्विग्न और विरक्त हो जाय, तब जितेन्द्रिय होकर, वह योगमें स्थित हो जाय और अभ्यास—आत्मानुसन्धानके द्वारा अपना मन मुझ परमात्मामें निश्चलरूपसे धारण करे ॥ १८ ॥

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥१९॥

जब स्थिर करते समय मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब झटपट बड़ी सावधानीसे उसे मनाकर, समझा-बुझाकर, फुसलाकर अपने वशमें कर ले ॥ १९ ॥

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥२०॥

इन्द्रियों और प्राणोंको अपने वशमें रक्खे और मनको एक क्षणके लिये भी स्वतन्त्र न छोड़े। उसकी एक-एक चाल, एक-एक

हरकतको देखता रहे। इस प्रकार सत्त्वसम्पन्न बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे मनको अपने वशमें कर लेना चाहिये ॥ २० ॥

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥ २१ ॥

जैसे सवार घोड़ेको अपने वशमें करते समय उसे अपने मनोभावकी पहचान कराना चाहता है—अपनी इच्छाके अनुसार उसे चलाना चाहता है और बार-बार फुसलाकर उसे अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही मनको फुसलाकर, उसे मीठी-मीठी बातें सुनाकर वशमें कर लेना भी परम योग है ॥ २१ ॥

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति ॥ २२ ॥

सांख्यशास्त्रमें प्रकृतिसे लेकर शरीरपर्यन्त सृष्टिका जो क्रम बतलाया गया है, उसके अनुसार सृष्टि-चिन्तन करना चाहिये और जिस क्रमसे शरीर आदिका प्रकृतिमें लय बताया गया है, उस प्रकार लय-चिन्तन करना चाहिये। यह क्रम तबतक जारी रखना चाहिये, जबतक मन शान्त—स्थिर न हो जाय ॥ २२ ॥

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं[1] चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥ २३ ॥

जो पुरुष संसारसे विरक्त हो गया है और जिसे संसारके पदार्थोंमें दुःख-बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुजनोंके उपदेशको भलीभाँति समझकर बार-बार अपने स्वरूपके ही चिन्तनमें संलग्न

१. दौर्भाग्यं ।

रहता है । इस अभ्याससे बहुत शीघ्र ही उसका मन अपनी वह चञ्चलता, जो अनात्मा शरीर आदिमें आत्मबुद्धि करनेसे हुई है, छोड़ देता है ॥ २३ ॥

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया ।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥ २४ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गोंसे, वस्तुतत्त्वका निरीक्षण-परीक्षण करनेवाली आत्मविद्यासे तथा मेरी प्रतिमाकी उपासनासे—अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मन परमात्माका चिन्तन करने लगता है; और कोई उपाय नहीं है ॥ २४ ॥

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥ २५ ॥

उद्धवजी ! वैसे तो योगी कभी कोई निन्दित कर्म करता ही नहीं; परन्तु यदि कभी उससे प्रमादवश कोई अपराध बन जाय तो योगके द्वारा ही उस पापको जला डाले, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि दूसरे प्रायश्चित्त कभी न करे ॥ २५ ॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥ २६ ॥

अपने-अपने अधिकारमें जो निष्ठा है, वही गुण कहा गया है । इस गुण-दोष और विधि-निषेधके विधानसे यही तात्पर्य निकलता है कि किसी प्रकार विषयासक्तिका परित्याग हो जाय; क्योंकि कर्म तो

---

१. योगं ।

जन्मसे ही अशुद्ध हैं, अनर्थके मूल हैं। शास्त्रका तात्पर्य उनका नियन्त्रण, नियम ही है। जहाँतक हो सके प्रवृत्तिका संकोच ही करना चाहिये ॥ २६ ॥

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥ २७ ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥ २८ ॥

जो साधक समस्त कर्मोंसे विरक्त हो गया हो, उनमें दुःखबुद्धि रखता हो, मेरी लीलाकथाके प्रति श्रद्धालु हो और यह भी जानता हो कि सभी भोग और भोगवासनाएँ दुःखरूप हैं, किंतु इतना सब जानकर भी जो उनके परित्यागमें समर्थ न हो, उसे चाहिये कि उन भोगोंको तो भोग लें; परन्तु उन्हें सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझे और मन-ही-मन उसकी निन्दा करे तथा उसे अपना दुर्भाग्य ही समझे। साथ ही इस दुविधाकी स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और प्रेमसे मेरा भजन करे॥ २७-२८ ॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।[1]
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥ २९ ॥

इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं॥ २९ ॥

---

१. विधिना यस्य भजतो मां महामते।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥ ३० ॥

इस तरह जब उसे मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्मवासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं ॥३०॥

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ ३१ ॥

इसीसे जो योगी मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान अथवा वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती । उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है ॥ ३१ ॥

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥ ३२ ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति ॥ ३३ ॥

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याणसाधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग मेरा परम धाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे ही, यदि चाहे तो अनायास प्राप्त कर लेता है ॥ ३२-३३ ॥

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ३४ ॥

मेरे अनन्य प्रेमी एवं धैर्यवान् साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते

---

१. महात्मनः ।

ही नहीं; यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या—वे कैवल्य-मोक्ष भी नहीं लेना चाहते ॥ ३४ ॥

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्[1] ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥३५॥

उद्धवजी ! सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षताका ही दूसरा नाम है । इसलिये जो निष्काम और निरपेक्ष होता है, उसीको मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥३६॥

मेरे अनन्य-प्रेमी भक्तोंका और उन समदर्शी महात्माओंका, जो बुद्धिसे अतीत परमतत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, इन विधि और निषेधसे होनेवाले पुण्य और पापसे कोई सम्बन्ध ही नहीं होता ॥ ३६ ॥

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ॥३७॥

इस प्रकार जो लोग मेरे बतलाये हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्ममार्गोंका आश्रय लेते हैं, वे मेरे परम कल्याणस्वरूप धामको प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परब्रह्मतत्त्वको जान लेते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

---

१. मकल्पकम् ।

अथैकविंशोऽध्यायः

गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप और रहस्य

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।
क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! मेरी प्राप्तिके तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग । जो इन्हें छोड़कर चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा क्षुद्र भोग भोगते रहते हैं, वे बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटकते रहते हैं ॥ १ ॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥

अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है । तात्पर्य यह कि गुण और दोष दोनोंकी व्यवस्था अधिकारके अनुसार की जाती है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं ॥ २ ॥

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥ ३ ॥

वस्तुओंके समान होनेपर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ आदिका जो विधान किया जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थका ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके और

उनमें सन्देह उत्पन्न करके ही यह योग्य है कि अयोग्य, स्वाभाविक प्रवृत्तिको नियन्त्रित—संकुचित किया जा सके ॥ ३ ॥

धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥ ४ ॥

उनके द्वारा धर्म सम्पादन कर सकें, समाजका व्यवहार ठीक-ठीक चला सकें और अपने व्यक्तिगत जीवनके निर्वाहमें भी सुविधा हो। इससे यह लाभ भी है कि मनुष्य अपनी वासनामूलक सहज प्रवृत्तियोंके द्वारा इनके जालमें न फँसकर शास्त्रानुसार अपने जीवनको नियन्त्रित और मनको वशीभूत कर लेता है। निष्पाप उद्धव ! यह आचार मैंने ही मनु आदिका रूप धारण करके धर्मका भार ढोनेवाले कर्मजडोंके लिये उपदेश किया है ॥ ४ ॥

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा[1] भूतानां पञ्च धातवः ।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चभूत ही ब्रह्मासे लेकर पर्वत-वृक्षपर्यन्त सभी प्राणियोंके शरीरोंके मूलकारण हैं। इस तरह वे सब शरीरकी दृष्टिसे तो समान हैं ही, सबका आत्मा भी एक ही है ॥ ५ ॥

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि ।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥

प्रिय उद्धव ! यद्यपि सबके शरीरोंके पञ्चभूत समान हैं फिर भी वेदोंने इनके वर्णाश्रम आदि अलग-अलग नाम और रूप इसलिये बना दिये हैं कि ये अपनी वासना-मूलक प्रवृत्तियोंको संकुचित

१. भूम्यग्न्यम्ब्वनि० ।

करके—नियन्त्रित करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकें ॥ ६ ॥

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम ।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७ ॥

साधुश्रेष्ठ ! देश, काल, फल, निमित्त, अधिकारी और धान्य आदि वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान भी मेरे द्वारा इसीलिये किया गया है कि कर्मोंमें लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति न हो, मर्यादाका भङ्ग न होने पावे ॥ ७ ॥

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत् ।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥

देशोंमें वह देश अपवित्र है, जिसमें कृष्णसार मृग न हों, और जिसके निवासी ब्राह्मणभक्त न हों । कृष्णसार मृगके होनेपर भी, केवल उन प्रदेशोंको छोड़कर जहाँ संत पुरुष रहते हैं, कीकट देश अपवित्र ही है । संस्काररहित और ऊसर आदि स्थान भी अपवित्र ही होते हैं ॥ ८ ॥

कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥ ९ ॥

समय वही पवित्र है, जिसमें कर्म करने योग्य सामग्री मिल सके तथा कर्म भी हो सके । जिसमें कर्म करनेकी सामग्री न मिले, आगन्तुक दोषोंसे अथवा स्वाभाविक दोषके कारण जिसमें कर्म ही न हो सके, वह समय अशुद्ध है ॥ ९ ॥

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च ।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा ॥ १० ॥

पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व अथवा अल्पत्वसे भी होती है। (जैसे कोई पात्र जलसे शुद्ध और मूत्रादिसे अशुद्ध हो जाता है। किसी वस्तुकी शुद्धि अथवा अशुद्धिमें शंका होनेपर ब्राह्मणोंके वचनसे वह शुद्ध हो जाती है अन्यथा अशुद्ध रहती है। पुष्पादि जल छिड़कनेसे शुद्ध और सूँघनेसे अशुद्ध माने जाते हैं। तत्कालका पकाया हुआ अन्न शुद्ध और बासी अशुद्ध माना जाता है। बड़े सरोवर और नदी आदिका जल शुद्ध और छोटे गड्ढोंका अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये।) ॥ १० ॥

शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥११॥

शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभवके अनुसार भी पवित्रता और अपवित्रताकी व्यवस्था होती है। उसमें भी स्थान और उपयोग करनेवालेकी आयुका विचार करते हुए ही अशुद्ध वस्तुओंके व्यवहारका दोष ठीक तरहसे आँका जाता है। (जैसे धनी-दरिद्र, बलवान्-निर्बल, बुद्धिमान्-मूर्ख, उपद्रवपूर्ण और सुखद देश तथा तरुण एवं वृद्धावस्थाके भेदसे शुद्धि और अशुद्धिकी व्यवस्थामें अन्तर पड़ जाता है) ॥ ११ ॥

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम्।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥१२॥

अनाज, लकड़ी, हाथीदाँत आदि हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेल, घी आदि रस, सोना-पारा आदि तैजस पदार्थ, चाम और घड़ा आदि

१. तथा।

मिट्टीके बने पदार्थ समयपर अपने आप हवा लगनेसे, आगमें जलानेसे, मिट्टी लगानेसे अथवा जलमें धोनेसे शुद्ध हो जाते हैं। देश, काल और अवस्थाके अनुसार कहीं जल-मिट्टी आदि शोधक सामग्रीके संयोगसे शुद्धि करनी पड़ती है तो कहीं-कहीं एक-एकसे भी शुद्धि हो जाती है ॥ १२ ॥

अमेध्यलिप्तं यद् येन गन्धं लेपं व्यपोहति।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥१३॥

यदि किसी वस्तुमें कोई अशुद्ध पदार्थ लग गया हो तो छीलनेसे या मिट्टी आदि मलनेसे जब उस पदार्थकी गन्ध और लेप न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूपमें आ जाय, तब उसको शुद्ध समझना चाहिये ॥ १३ ॥

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः ॥१४॥

स्नान, दान, तपस्या, वय, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरणसे चित्तकी शुद्धि होती है। इनके द्वारा शुद्ध होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये ॥१४॥

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम्।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥१५॥

गुरुमुखसे सुनकर भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेसे मन्त्रकी और मुझे समर्पित कर देनेसे कर्मकी शुद्धि होती है। उद्धवजी! इस प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म—इन छहोंके शुद्ध होनेसे धर्म और अशुद्ध होनेसे अधर्म होता है ॥१५॥

क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥१६॥

कहीं-कहीं शास्त्रविधिसे गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। (जैसे ब्राह्मणके लिये सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदि गुण हैं; परन्तु शूद्रके लिये दोष हैं। और दूध आदिका व्यापार वैश्यके लिये विहित है; परन्तु ब्राह्मणके लिये अत्यन्त निषिद्ध है।) एक ही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और किसीके लिये दोषका विधान गुण और दोषोंकी वास्तविकताका खण्डन कर देता है और इससे यह निश्चय होता है कि गुण-दोषका यह भेद कल्पित है ॥ १६ ॥

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम्।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥१७॥

जो लोग पतित हैं, वे पतितोंका-सा आचरण करते हैं तो उन्हें पाप नहीं लगता, जब कि श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये वह सर्वथा त्याज्य होता है। जैसे गृहस्थोंके लिये स्वाभाविक होनेके कारण अपनी पत्नीका सङ्ग पाप नहीं है; परन्तु संन्यासीके लिये घोर पाप है। उद्धवजी! बात तो यह है कि जो नीचे सोया हुआ है, वह गिरेगा कहाँ? वैसे ही जो पहलेसे ही पतित हैं, उनका अब और पतन क्या होगा? ॥ १७ ॥

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥१८॥

---

१. भवापहः।

जिन-जिन दोषों और गुणोंसे मनुष्यका चित्त उपरत हो जाता है, उन्हीं वस्तुओंके बन्धनसे वह मुक्त हो जाता है। मनुष्योंके लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याणका साधन है; क्योंकि यही शोक, मोह और भयको मिटानेवाला है ॥ १८ ॥

विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥ १९ ॥

उद्धवजी! विषयोंमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होनेसे उसे अपने पास रखनेकी कामना हो जाती है और इस कामनाकी पूर्तिमें किसी प्रकारकी बाधा पड़नेपर लोगोंमें परस्पर कलह होने लगता है ॥ १९ ॥

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥ २० ॥

कलहसे असह्य क्रोधकी उत्पत्ति होती है और क्रोधके समय अपने हित-अहितका बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है। इस अज्ञानसे शीघ्र ही मनुष्यकी कार्याकार्यका निर्णय करनेवाली व्यापक चेतना-शक्ति लुप्त हो जाती है ॥ २० ॥

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्छितस्य मृतस्य च ॥ २१ ॥

साधो! चेतनाशक्ति अर्थात् स्मृतिके लुप्त हो जानेपर मनुष्यमें मनुष्यता नहीं रह जाती, पशुता आ जाती है और वह शून्यके समान अस्तित्वहीन हो जाता है। अब उसकी अवस्था वैसी ही हो

जाती है, जैसे कोई मूर्च्छित या मुर्दा हो। ऐसी स्थितिमें न तो उसका स्वार्थ बनता है और न तो परमार्थ॥ २१॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन्॥ २२॥

विषयोंका चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है। उसका जीवन वृक्षोंके समान जड हो जाता है। उसके शरीरमें उसी प्रकार व्यर्थ श्वास चलता रहता है, जैसे लुहारकी धौंकनीकी हवा। उसे न अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरेका। वह सर्वथा आत्मवञ्चित हो जाता है॥ २२॥

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्॥ २३॥

उद्धवजी! यह स्वर्गादिरूप फलका वर्णन करनेवाली श्रुति मनुष्योंके लिये उन-उन लोकोंको परम पुरुषार्थ नहीं बतलाती, परन्तु बहिर्मुख पुरुषोंके लिये अन्तःकरणशुद्धिके द्वारा परम कल्याणमय मोक्षकी विवक्षासे ही कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये वैसा वर्णन करती है। जैसे बच्चोंसे ओषधिमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये रोचक वाक्य कहे जाते हैं। (बेटा! प्रेमसे गिलोयका काढ़ा पी लो तो तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी)॥ २३॥

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु॥ २४॥

इसमें सन्देह नहीं कि संसारके विषयभोगोंमें, प्राणोंमें और सगे-सम्बन्धियोंमें सभी मनुष्य जन्मसे ही आसक्त हैं और उन

वस्तुओंकी आसक्ति उनकी आत्मोन्नतिमें बाधक एवं अनर्थका कारण है ॥ २४ ॥

न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।
कथं युञ्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥ २५ ॥

वे अपने परम पुरुषार्थको नहीं जानते, इसलिये स्वर्गादिका जो वर्णन मिलता है, वह ज्यों-का-त्यों सत्य है—ऐसा विश्वास करके देवादि योनियोंमें भटकते रहते हैं और फिर वृक्ष आदि योनियोंके घोर अन्धकारमें आ पड़ते हैं। ऐसी अवस्थामें कोई भी विद्वान् अथवा वेद फिरसे उन्हें उन्हीं विषयोंमें क्यों प्रवृत्त करेगा ? ॥ २५ ॥

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥ २६ ॥

दुर्बुद्धिलोग (कर्मवादी) वेदोंका यह अभिप्राय न समझकर कर्मासक्तिवश पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंका वर्णन देखते हैं और उन्हींको परम फल मानकर भटक जाते हैं । परन्तु वेदवेत्ता लोग श्रुतियोंका ऐसा तात्पर्य नहीं बतलाते ॥ २६ ॥

कामिनः कृपणा लुब्धा पुष्पेषु फलबुद्धयः ।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥ २७ ॥

विषय-वासनाओंमें फँसे हुए दीन-हीन, लोभी पुरुष रंग-बिरंगे पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंको ही सब कुछ समझ बैठते हैं, अग्निके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञ-यागादि कर्मोंमें ही मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें अन्तमें देवलोक, पितृलोक आदिकी ही प्राप्ति होती है । दूसरी ओर भटक जानेके कारण उन्हें अपने निजधाम आत्मपदका पता नहीं लगता ॥ २७ ॥

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥ २८ ॥

प्यारे उद्धव ! उनके पास साधना है तो केवल कर्मकी और उसका कोई फल है तो इन्द्रियोंकी तृप्ति । उनकी आँखें धुँधली हो गयी हैं; इसीसे वे यह बात नहीं जानते कि जिससे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं इस जगत्के रूपमें है, वह परमात्मा मैं उनके हृदयमें ही हूँ ॥ २८ ॥

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना ॥ २९ ॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन्[1] खलाः ॥ ३० ॥

यदि हिंसा और उसके फल मांस-भक्षणमें राग ही हो, उसका त्याग किया जा सकता हो, तो यज्ञमें ही करे—यह परिसंख्या विधि है, स्वाभाविक प्रवृत्तिका संकोच है, सन्ध्यावन्दनादिके समान अपूर्व विधि नहीं है । इस प्रकार मेरे परोक्ष अभिप्रायको न जानकर विषयलोलुप पुरुष हिंसाका खिलवाड़ खेलते हैं और दुष्टतावश अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये वध किये हुए पशुओंके मांससे यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूतपतियोंके यजनका ढोंग करते हैं ॥ २९-३० ॥

स्वप्नोपममसुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।
आशिषो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक् ॥ ३१ ॥

उद्धवजी ! स्वर्गादि परलोक स्वप्नके दृश्योंके समान हैं; वास्तवमें

१. पितॄन् भूत० ।

वे असत् हैं, केवल उनकी बातें सुननेमें बहुत मीठी लगती हैं। सकाम पुरुष वहाँके भोगोंके लिये मन-ही-मन अनेकों प्रकारके संकल्प कर लेते हैं और जैसे व्यापारी अधिक लाभकी आशासे मूलधनको भी खो बैठता है, वैसे ही वे सकाम यज्ञोंद्वारा अपने धनका नाश करते हैं॥ ३१॥

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम्॥ ३२॥

वे स्वयं रजोगुण, सत्त्वगुण या तमोगुणमें स्थित रहते हैं और रजोगुणी, सत्त्वगुणी अथवा तमोगुणी इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं। वे उन्हीं सामग्रियोंसे उतने ही परिश्रमसे मेरी पूजा नहीं करते॥ ३२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला[1] महाकुलाः॥ ३३॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसा नृणाम्।
मानिनां चातिस्तब्धानां[2] मद्वार्तापि न रोचते॥ ३४॥

वे जब इस प्रकारकी पुष्पिता वाणी—रंग-बिरंगी मीठी-मीठी बातें सुनते हैं कि 'हमलोग इस लोकमें यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके स्वर्गमें जायँगे और वहाँ दिव्य आनन्द भोगेंगे, उसके बाद जब फिर हमारा जन्म होगा, तब हम बड़े कुलीन परिवारमें पैदा होंगे, हमारे बड़े-बड़े महल होंगे और हमारा कुटुम्ब बहुत सुखी और बहुत बड़ा होगा, तब उनका चित्त क्षुब्ध हो जाता

१. महाशीलाः। २. चापि बद्धानां।

है और उन हेकड़ी जतानेवाले घमंडियोंको मेरे सम्बन्धकी बातचीत भी अच्छी नहीं लगती ॥ ३३-३४ ॥

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥ ३५ ॥

उद्धवजी ! वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान । इन तीनों काण्डोंके द्वारा प्रतिपादित विषय है ब्रह्म और आत्माकी एकता; सभी मन्त्र और मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस विषयको खोलकर नहीं, गुप्तभावसे बतलाते हैं और मुझे भी इस बातको गुप्तरूपसे कहना ही अभीष्ट है * ॥ ३५ ॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥ ३६ ॥

वेदोंका नाम है शब्दब्रह्म । वे मेरी मूर्ति हैं, इसीसे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है । वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणीके रूपमें प्राण, मन और इन्द्रियमय है । समुद्रके समान सीमारहित और गहरा है । उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है । (इसीसे जैमिनि आदि बड़े-बड़े विद्वान् भी उसके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते) ॥ ३६ ॥

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥ ३७ ॥

---

१. च मम प्रि० ।

* क्योंकि सब लोग इसके अधिकारी नहीं हैं, अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही यह बात समझमें आती है ।

उद्धव ! मैं अनन्तशक्तिसम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेदवाणीका विस्तार किया है। जैसे कमलनालमें पतला-सा सूत्र होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियोंके अन्तःकरणमें अनाहतनादके रूपमें प्रकट होती है ॥ ३७ ॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥ ३८ ॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम् ॥ ३९ ॥
विचित्रभाषावितता छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥ ४० ॥

भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं वेदमूर्ति एवं अमृतमय हैं। उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत शब्दके द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है। जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुखद्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है, वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णोंका संकल्प करनेवाले मनरूप निमित्तकारणके द्वारा हृदयाकाशसे अनन्त अपार अनेकों मार्गोंवाली वैखरीरूप वेदवाणीको स्वयं ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं। वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकारके द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श ('क' से लेकर 'म' तक—२५), स्वर ('अ' से 'औ' तक—९), ऊष्मा (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व)—इन वर्णोंसे विभूषित है। उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं और उनके द्वारा विचित्र भाषाके रूपमें वह विस्तृत हुई है ॥ ३८—४० ॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद् विराट्॥४१॥

(चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दोंमेंसे कुछ ये हैं—) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट् ॥ ४१ ॥

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥४२॥

वह वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासना-काण्डमें किन देवताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकारके विकल्प करती है-इन बातोंको इस सम्बन्धमें श्रुतिके रहस्यको मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता ॥ ४२ ॥

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥४३॥

मैं तुम्हें स्पष्ट बतला देता हूँ, सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें मेरा ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें आकाशादिरूपसे मुझमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेदका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं

और अन्तमें सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठानरूपसे मैं ही शेष रह जाता हूँ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति-विवेक

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश[1] संख्यातान्यृषिभिः प्रभो ।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह[2] शुश्रुम ॥ १ ॥

उद्धवजीने कहा—प्रभो ! विश्वेश्वर ! ऋषियोंने तत्त्वोंकी संख्या कितनी बतलायी है ? आपने तो अभी (उन्नीसवें अध्यायमें) नौ, ग्यारह, पाँच और तीन अर्थात् कुल अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं । यह तो हम सुन चुके हैं ॥ १ ॥

केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥ २ ॥

किन्तु कुछ लोग छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कुछ पचीस; कोई सात, नौ अथवा छः स्वीकार करते हैं, कोई चार बतलाते हैं तो कोई ग्यारह ॥ २ ॥

१. देवेश । २. त्वमिति ।

केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि॥ ३॥

इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं ऋषि-मुनियोंके मतमें उनकी संख्या सत्रह है, कोई सोलह और कोई तेरह बतलाते हैं। सनातन श्रीकृष्ण! ऋषि-मुनि इतनी भिन्न संख्याएँ किस अभिप्रायसे बतलाते हैं? आप कृपा करके हमें बतलाइये॥ ३॥

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥ ४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है; क्योंकि सभी तत्त्व सबमें अन्तर्भूत हैं। मेरी मायाको स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है?॥४॥

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥ ५॥

'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, जो मैं कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार जगत्‌के कारणके सम्बन्धमें विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियों—सत्त्व, रज आदि गुणों और उनकी वृत्तियोंका रहस्य लोग समझ नहीं पाते; इसलिये वे अपनी-अपनी मनोवृत्तिपर ही आग्रह कर बैठते हैं॥ ५॥

यासां व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदतां पदम्[1]।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति॥ ६॥

---

१. परम्।

सत्त्व आदि गुणोंके क्षोभसे ही यह विविध कल्पनारूप प्रपञ्च जो वस्तु नहीं केवल नाम है—उठ खड़ा हुआ है। यही वाद-विवाद करनेवालोंके विवादका विषय है। जब इन्द्रियाँ अपने वशमें हो जाती हैं तथा चित्त शान्त हो जाता है, तब यह प्रपञ्च भी निवृत्त हो जाता है और उसकी निवृत्तिके साथ ही सारे वाद-विवाद भी मिट जाते हैं॥ ६॥

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम्॥ ७॥

पुरुषशिरोमणे! तत्त्वोंका एक दूसरेमें अनुप्रवेश है, इसलिये वक्ता तत्त्वकी जितनी संख्या बतलाना चाहता है, उसके अनुसार कारणको कार्यमें अथवा कार्यको कारणमें मिलाकर अपनी इच्छित संख्या सिद्ध कर लेता है॥ ७॥

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्वस्मिन् वापरस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥ ८॥

ऐसा देखा जाता है कि एक ही तत्त्वमें बहुतसे दूसरे तत्त्वोंका अन्तर्भाव हो गया है। इसका कोई बन्धन नहीं है कि किसका किसमें अन्तर्भाव हो। कभी घट-पट आदि कार्य वस्तुओंका उनके कारण मिट्टी-सूत आदिमें, तो कभी मिट्टी-सूत आदिका घट-पट आदि कार्योंमें अन्तर्भाव हो जाता है॥ ८॥

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्॥ ९॥

---

१. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

इसलिये वादी-प्रतिवादियोंमेंसे जिसकी वाणीने जिस कार्यको जिस कारणमें अथवा जिस कारणको जिस कार्यमें अन्तर्भूत करके तत्त्वोंकी जितनी संख्या स्वीकार की है, वह हम निश्चय ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि उनका वह उपपादन युक्तिसङ्गत ही है ॥ ९ ॥

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥ १० ॥

उद्धवजी ! जिन लोगोंने छब्बीस संख्या स्वीकार की है, वे ऐसा कहते हैं कि जीव अनादि कालसे अविद्यासे ग्रस्त हो रहा है । वह स्वयं अपने-आपको नहीं जान सकता । उसे आत्मज्ञान करानेके लिये किसी अन्य सर्वज्ञकी आवश्यकता है । (इसलिये प्रकृतिके कार्यकारणरूप चौबीस तत्त्व, पचीसवाँ पुरुष और छब्बीसवाँ ईश्वर—इस प्रकार कुल छब्बीस तत्त्व स्वीकार करने चाहिये) ॥ १० ॥

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥ ११ ॥

पचीस तत्त्व माननेवाले कहते हैं कि इस शरीरमें जीव और ईश्वरका अणुमात्र भी अन्तर या भेद नहीं है, इसलिये उनमें भेदकी कल्पना व्यर्थ है । रही ज्ञानकी बात, सो तो सतत्त्वात्मिका प्रकृतिका गुण है ॥ ११ ॥

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ १२ ॥

तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है, इसलिये सत्त्व, रज आदि गुण आत्माके नहीं, प्रकृतिके ही हैं । इन्हींके द्वारा जगत्की

---

१. प्रकृतेर्गुण० ।

स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय हुआ करते हैं। इसलिये ज्ञान आत्माका गुण नहीं, प्रकृतिका ही गुण सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव[1] च ॥ १३ ॥

इस प्रसङ्गमें सत्त्वगुण ही ज्ञान है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहा गया है और गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ही काल है और सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व ही स्वभाव है। (इसलिये पचीस और छब्बीस तत्त्वोंकी—दोनों ही संख्या युक्तिसंगत है) ॥ १३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥ १४ ॥

उद्धवजी ! (यदि तीनों गुणोंको प्रकृतिसे अलग मान लिया जाय, जैसे कि उनकी उत्पत्ति और प्रलयको देखते हुए मानना चाहिये, तो तत्त्वोंकी संख्या स्वयं ही अट्ठाईस हो जाती है। उन तीनोंके अतिरिक्त पचीस ये हैं) पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये नौ तत्त्व मैं पहले ही गिना चुका हूँ ॥ १४ ॥

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥ १५ ॥
शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः ।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥ १६ ॥

---

१. तत्त्वमेव वा ।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही हैं। इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय। इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच–सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व होते हैं। कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले पाँच कर्म–चलना, बोलना, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना—इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती। इन्हें कर्मेन्द्रियस्वरूप ही मानना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥ १७ ॥

सृष्टिके आरम्भमें कार्य (ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चभूत) और कारण (महत्तत्त्व आदि) के रूपमें प्रकृति ही रहती है। वही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी सहायतासे जगत्की स्थिति, उत्पत्ति और संहारसम्बन्धी अवस्थाएँ धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओंका केवल साक्षीमात्र बना रहता है ॥ १७ ॥

व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥ १८ ॥

महत्तत्त्व आदि कारण धातुएँ विकारको प्राप्त होते हुए पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिल जाते हैं और प्रकृतिका आश्रय लेकर उसीके बलसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं ॥ १८ ॥

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥ १९ ॥

उद्धवजी ! जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सात स्वीकार करते हैं, उनके विचारसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच भूत, छठा जीव और सातवाँ परमात्मा—जो साक्षी जीव और साक्ष्य जगत् दोनोंका अधिष्ठान है—ये ही तत्त्व हैं । देह, इन्द्रिय और प्राणादि-की उत्पत्ति तो पञ्चभूतोंसे ही हुई है [इसलिये वे इन्हें अलग नहीं गिनते] ॥ १९ ॥

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् ।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥ २० ॥

जो लोग केवल छः तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और छठा है परमपुरुष परमात्मा । वह परमात्मा अपने बनाये हुए पञ्चभूतोंसे युक्त होकर देह आदिकी सृष्टि करता है और उनमें जीवरूपसे प्रवेश करता है । (इस मतके अनुसार जीवका परमात्मामें और शरीर आदिका पञ्चभूतोंमें समावेश हो जाता है) ॥ २० ॥

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥ २१ ॥

जो लोग कारणके रूपमें चार ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्मासे तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है और जगत्‌में जितने पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं । वे सभी कार्योंका इन्हींमें समावेश कर लेते हैं ॥ २१ ॥

---

१. यत्रा०

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥ २२ ॥

जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सत्रह बतलाते हैं, वे इस प्रकार गणना करते हैं—पाँच भूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा ॥ २२ ॥

तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥ २३ ॥

जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सोलह बतलाते हैं, उनकी गणना भी इसी प्रकार है । अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्मामें मनका भी समावेश कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्वसंख्या सोलह रह जाती है । जो लोग तेरह तत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं कि आकाशादि पाँच भूत, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह तत्त्व हैं ॥ २३ ॥

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥ २४ ॥

ग्यारह संख्या माननेवालोंने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और इनके अतिरिक्त एक आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया है । जो लोग नौ तत्त्व मानते हैं, वे आकाशादि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार—ये आठ प्रकृतियाँ और नवाँ पुरुष—इन्हींको तत्त्व मानते हैं ॥ २४ ॥

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम् ॥ २५ ॥

---

१. यह 'एकादशत्व ···नवेत्यथ' श्लोक प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

उद्धवजी ! इस प्रकार ऋषि-मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है। सबका कहना उचित ही है, क्योंकि सबकी संख्या युक्तियुक्त है। जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं, उन्हें किसी भी मतमें बुराई नहीं दीखती। उनके लिये तो सब कुछ ठीक ही है ॥ २५ ॥

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ॥ २६ ॥

उद्धवजीने कहा—श्यामसुन्दर ! यद्यपि स्वरूपतः प्रकृति और पुरुष दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि वे आपसमें इतने घुल-मिल गये हैं कि साधारणतः उनका भेद नहीं जान पड़ता ॥२६॥

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि ।
एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ[1] वचोभिर्नयनैपुणैः ॥ २७ ॥

प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं। इनकी भिन्नता स्पष्ट कैसे हो ? कमलनयन श्रीकृष्ण ! मेरे हृदयमें इनकी भिन्नताको लेकर बहुत बड़ा सन्देह है। आप तो सर्वज्ञ हैं, अपनी युक्तियुक्त वाणीसे मेरे सन्देहका निवारण कर दीजिये ॥ २७ ॥

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया[2] गतिं वेत्थ न चापरः ॥ २८ ॥

१. देवेश । २. ह्यात्मनो योगगतिं ।

भगवन् ! आपकी ही कृपासे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी मायाशक्तिसे ही उनके ज्ञानका नाश होता है। अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाकी विचित्र गति आप ही जानते हैं, और कोई नहीं जानता। अतएव आप ही मेरा सन्देह मिटानेमें समर्थ हैं ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥२९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा—इन दोनोंमें अत्यन्त भेद है। इस प्राकृत जगत्में जन्म-मरण एवं वृद्धि-ह्रास आदि विकार लगे ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणोंके क्षोभसे ही बना है ॥ २९ ॥

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्[1] ॥३०॥

प्रिय मित्र ! मेरी माया त्रिगुणात्मिका है। वही अपने सत्त्व-रज आदि गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेदवृत्तियाँ पैदा कर देती है। यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी इस विकारात्मक सृष्टिको तीन भागोंमें बाँट सकते हैं। वे तीन भाग हैं—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ॥ ३० ॥

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः[2] खे ।

१. मथादिभूतमधिदैवमन्यत्। २. स्वतोऽसौ।

आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥३१॥

उदाहरणार्थ—नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उसका विषय रूप अधिभूत है और नेत्रगोलकमें स्थित सूर्यदेवताका अंश अधिदैव है। ये तीनों परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं। और इसलिये अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। परन्तु आकाशमें स्थित सूर्यमण्डल इन तीनोंकी अपेक्षासे मुक्त है, क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा भी उपर्युक्त तीनों भेदोंका मूलकारण, उनका साक्षी और उनसे परे है। वही अपने स्वयंसिद्ध प्रकाशसे समस्त सिद्ध पदार्थोंकी मूलसिद्धि है। उसीके द्वारा सबका प्रकाश होता है। जिस प्रकार चक्षुके तीन भेद बताये गये, उसी प्रकार त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका और चित्त आदिके भी तीन-तीन भेद हैं* ॥ ३१ ॥

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
र्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥३२॥

* यथा त्वचा, स्पर्श और वायु; श्रवण, शब्द और दिशा; जिह्वा, रस और वरुण; नासिका, गन्ध और अश्विनीकुमार; चित्त, चिन्तनका विषय और वासुदेव; मन, मनका विषय और चन्द्रमा; अहङ्कार, अहङ्कारका विषय और रुद्र; बुद्धि, समझनेका विषय और ब्रह्मा—इन सभी त्रिविध तत्त्वोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रकृतिसे महत्तत्त्व बनता है और महत्तत्त्वसे अहङ्कार । इस प्रकार यह अहङ्कार गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न हुआ प्रकृतिका ही एक विकार है । अहङ्कारके तीन भेद हैं—सात्त्विक, तामस और राजस । यह अहङ्कार ही अज्ञान और सृष्टिकी विविधताका मूल-कारण है ॥ ३२ ॥

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥३३॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका इन पदार्थोंसे न तो कोई सम्बन्ध है और न उसमें कोई विवादकी ही बात है । अस्ति-नास्ति (है-नहीं), सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि रूपसे जितने भी वाद-विवाद हैं, सबका मूलकारण भेद-दृष्टि ही है । इसमें सन्देह नहीं कि इस विवादका कोई प्रयोजन नहीं है; यह सर्वथा व्यर्थ है तथापि जो लोग मुझसे—अपने वास्तविक स्वरूपसे विमुख हैं, वे इस विवादसे मुक्त नहीं हो सकते ॥ ३३ ॥

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो ।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥३४॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! आपसे विमुख जीव अपने किये हुए पुण्य-पापोंके फलस्वरूप ऊँची-नीची योनियोंमें जाते-आते रहते हैं । अब प्रश्न यह है कि व्यापक आत्माका एक शरीरसे दूसरे

शरीरमें जाना, अकर्ताका कर्म करना और नित्य-वस्तुका जन्म-मरण कैसे सम्भव है ? ॥ ३४ ॥

तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः ।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ॥३५॥

गोविन्द ! जो लोग आत्मज्ञानसे रहित हैं, वे तो इस विषयको ठीक-ठीक सोच भी नहीं सकते । और इस विषयके विद्वान् संसारमें प्रायः मिलते नहीं, क्योंकि सभी लोग आपकी मायाकी भूल-भुलैयामें पड़े हुए हैं । इसलिये आप ही कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाइये ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य[1] आत्मा तदनुवर्तते ॥३६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! मनुष्योंका मन कर्म-संस्कारोंका पुञ्ज है । उन संस्कारोंके अनुसार भोग प्राप्त करनेके लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं । इसीका नाम है लिङ्गशरीर । वही कर्मोंके अनुसार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें आता-जाता रहता है । आत्मा इस लिङ्गशरीरसे सर्वथा पृथक् है । उसका आना-जाना नहीं होता; परन्तु जब वह अपनेको लिङ्गशरीर ही समझ बैठता है, उसीमें अहङ्कार कर लेता है, तब उसे भी अपना जाना-आना प्रतीत होने लगता है ॥ ३६ ॥

ध्यायन् मनोऽनु विषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ[2] ।
उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥३७॥

---

१. कर्ममयै० । २. वाथ श्रुतांस्तथा ।

मन कर्मोंके अधीन है। वह देखे हुए या सुने हुए विषयोंका चिन्तन करने लगता है और क्षणभरमें ही उनमें तदाकार हो जाता है तथा उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयोंमें लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी स्मृति, पूर्वापरका अनुसन्धान भी नष्ट हो जाता है॥ ३७॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥३८॥

उन देवादि शरीरोंमें इसका इतना अभिनिवेश, इतनी तल्लीनता हो जाती है कि जीवको अपने पूर्व शरीरका स्मरण भी नहीं रहता। किसी भी कारणसे शरीरको सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है॥ ३८॥

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥३९॥

उदार उद्धव! जब यह जीव किसी भी शरीरको अभेदभावसे 'मैं' के रूपमें स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नकालीन और मनोरथकालीन शरीरमें अभिमान करना ही स्वप्न और मनोरथ कहा जाता है॥ ३९॥

स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति॥४०॥

यह वर्तमान देहमें स्थित जीव जैसे पूर्व देहका स्मरण नहीं करता, वैसे ही या मनोरथमें स्थित जीव भी पहलेके स्वप्न और मनोरथको स्मरण नहीं करता, प्रत्युत उस वर्तमान स्वप्न और मनोरथमें पूर्व सिद्ध होनेपर भी अपनेको नवीन-सा ही समझता है॥ ४०॥

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद् यथा॥४१॥

इन्द्रियोंके आश्रय मन या शरीरकी सृष्टिसे आत्मवस्तुमें यह उत्तम, मध्यम और अधमकी त्रिविधता भासती है । उनमें अभिमान करनेसे ही आत्मा बाह्य और आभ्यन्तर भेदोंका हेतु मालूम पड़ने लगता है; जैसे दुष्ट पुत्रको उत्पन्न करनेवाला पिता पुत्रके शत्रु-मित्र आदिके लिये भेदका हेतु हो जाता है ॥ ४१ ॥

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति[1] न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न[2] दृश्यते ॥४२॥

प्यारे उद्धव ! कालकी गति सूक्ष्म है । उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता । उसके द्वारा प्रतिक्षण ही शरीरोंकी उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं । सूक्ष्म होनेके कारण प्रतिक्षण होनेवाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते ॥ ४२ ॥

यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥४३॥

जैसे कालके प्रभावसे दियेकी लौ, नदियोंके प्रवाह अथवा वृक्षके फलोंकी विशेष-विशेष अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियोंके शरीरोंकी आयु, अवस्था आदि भी बदलती रहती है ॥ ४३ ॥

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥४४॥

जैसे यह उन्हीं ज्योतियोंका वही दीपक है, प्रवाहका यह वही जल है—ऐसा समझना और कहना मिथ्या है, वैसे ही विषय-चिन्तनमें व्यर्थ आयु बितानेवाले अविवेकी पुरुषोंका ऐसा कहना और समझना कि यह वही पुरुष है, सर्वथा मिथ्या है ॥ ४४ ॥

---

१. न भवन्ति भवन्ति च । २. सूक्ष्मत्वं तत्र ।

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥४५॥

यद्यपि वह भ्रान्त पुरुष भी अपने कर्मोंके बीजद्वारा न पैदा होता है और न तो मरता ही है; वह भी अजन्मा और अमर ही है, फिर भी भ्रान्तिसे वह उत्पन्न होता है और मरता-सा भी है, जैसे कि काष्ठसे युक्त अग्नि पैदा होता और नष्ट होता दिखायी पड़ता है ॥ ४५ ॥

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥४६॥

उद्धवजी ! गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी, अधेड़ अवस्था, बुढ़ापा और मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं ॥ ४६ ॥

एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः ।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च ॥४७॥

यह शरीर जीवसे भिन्न है और ये ऊँची-नीची अवस्थाएँ उनके मनोरथके अनुसार ही हैं; परन्तु वह अज्ञानवश गुणोंके सङ्गसे इन्हें अपनी मानकर भटकने लगता है और कभी-कभी विवेक हो जानेपर इन्हें छोड़ भी देता है ॥ ४७ ॥

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥४८॥

पिताको पुत्रके जन्मसे और पुत्रको पिताकी मृत्युसे अपने-

---

१. न्मादि ।

अपने जन्म-मरणका अनुमान कर लेना चाहिये । जन्म-मृत्युसे युक्त देहोंका द्रष्टा जन्म और मृत्युसे युक्त शरीर नहीं है ॥ ४८ ॥

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥४९॥

जैसे जौ-गेहूँ आदिकी फसल बोनेपर उग आती है और पक जानेपर काट दी जाती है, किन्तु जो पुरुष उनके उगने और काटनेका जाननेवाला साक्षी है, वह उनसे सर्वथा पृथक् है; वैसे ही जो शरीर और उसकी अवस्थाओंका साक्षी है, वह शरीरसे सर्वथा पृथक् है ॥ ४९ ॥

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥५०॥

अज्ञानी पुरुष इस प्रकार प्रकृति और शरीरसे आत्माका विवेचन नहीं करते । वे उसे उनसे तत्त्वतः अलग अनुभव नहीं करते और विषयभोगमें सच्चा सुख मानने लगते हैं तथा उसीमें मोहित हो जाते हैं । इसीसे उन्हें जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकना पड़ता है ॥ ५० ॥

सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥५१॥

जब अविवेकी जीव अपने कर्मोंके अनुसार जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकने लगता है, तब सात्त्विक कर्मोंकी आसक्तिसे वह ऋषिलोक और देवलोकमें, राजसिक कर्मोंकी आसक्तिसे मनुष्य और असुरयोनियोंमें तथा तामसी कर्मोंकी आसक्तिसे भूत-प्रेत एवं पशु-पक्षी आदि योनियों-में जाता है ॥ ५१ ॥

नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५२॥

जब मनुष्य किसीको नाचते-गाते देखता है, तब वह स्वयं भी उसका अनुकरण करने—तान तोड़ने लगता है। वैसे ही जब जीव बुद्धिके गुणोंको देखता है, तब स्वयं निष्क्रिय होनेपर भी उसका अनुकरण करनेके लिये बाध्य हो जाता है ॥ ५२ ॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५३॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥५४॥

जैसे नदी-तालाब आदिके जलके हिलने या चंचल होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित तटके वृक्ष भी उसके साथ हिलते-डोलते-से जान पड़ते हैं, जैसे घुमाये जानेवाले नेत्रके साथ-साथ पृथ्वी भी घूमती हुई-सी दिखायी देती है, जैसे मनके द्वारा सोचे गये तथा स्वप्नमें देखे गये भोग-पदार्थ सर्वथा अलीक ही होते हैं, वैसे ही हे दाशार्ह! आत्माका विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा असत्य है। आत्मा तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ही है ॥५३-५४॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५५॥

विषयोंके सत्य न होनेपर भी जो जीव विषयोंका ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्नमें प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती ॥ ५५ ॥

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
[1]आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥५६॥

प्रिय उद्धव ! इसलिये इन दुष्ट (कभी तृप्त न होनेवाली) इन्द्रियोंसे विषयोंको मत भोगो । आत्माके अज्ञानसे प्रतीत होनेवाला सांसारिक भेदभाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो ॥ ५६ ॥

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा[2] ।
ताडितः सन्निबद्धो[3] वा वृत्त्या[4] वा परिहापितः ॥५७॥
निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः[5] ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥५८॥

असाधु पुरुष गर्दन पकड़कर बाहर निकाल दें, वाणीद्वारा अपमान करें, उपहास करें, निन्दा करें, मारे-पीटें, बाँधें, आजीविका छीन लें, ऊपर थूक दें, मूत दें अथवा तरह-तरहसे विचलित करें, निष्ठासे डिगानेकी चेष्टा करें, उनके किसी भी उपद्रवसे क्षुब्ध न होना चाहिये; क्योंकि वे तो बेचारे अज्ञानी हैं, उन्हें परमार्थका तो पता ही नहीं है । अतः जो अपने कल्याणका इच्छुक है, उसे सभी कठिनाइयोंसे अपनी विवेक-बुद्धिद्वारा ही किसी बाह्य साधनसे नहीं अपनेको बचा लेना चाहिये । वस्तुतः आत्मदृष्टि ही समस्त विपत्तियोंसे बचनेका एकमात्र साधन है ॥ ५७-५८ ॥

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं वद नो[6] वदतां वर ।
सुदुस्सहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥५९॥

---

१. आत्माग्रहणनिष्पन्नं पश्यन् वैकल्पिकं भ्रमम् । २. ऽपि वा ।
३. सन्निरुद्धो । ४. भृत्या । ५. प्रकल्पितः । ६. भो ।

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप समस्त वक्ताओंके शिरोमणि हैं। मैं इस दुर्जनोंसे किये गये तिरस्कारको अपने मनमें अत्यन्त असह्य समझता हूँ। अतः जैसे मैं इसको समझ सकूँ, आपका उपदेश जीवनमें धारण कर सकूँ, वैसे हमें बतलाइये॥ ५९॥

विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी।
ऋते त्वद्धर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान्॥६०॥

विश्वात्मन्! जो आपके भागवतधर्मके आचरणमें प्रेमपूर्वक संलग्न हैं, जिन्होंने आपके चरण-कमलोंका ही आश्रय ले लिया है, उन शान्त पुरुषोंके अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी दुष्टोंके द्वारा किया हुआ तिरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकृति अत्यन्त बलवती है॥ ६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास

बादरायणिरुवाच[1]

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः[2]।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः॥ १॥

---

१. शुक उवाच। २. वर्यः।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वास्तवमें भगवान्‌की लीलाकथा ही श्रवण करने योग्य है । वे ही प्रेम और मुक्तिके दाता हैं । जब उनके परम प्रेमी भक्त उद्धवजीने इस प्रकार प्रार्थना की, तब यदुवंशविभूषण श्रीभगवान्‌ने उनके प्रश्नकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धवजी ! इस संसारमें प्रायः ऐसे संत पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनोंकी कटुवाणीसे बिंधे हुए अपने हृदयको सँभाल सकें ॥ २ ॥

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति[1] मर्मस्था ह्यसतां[2] परुषेषवः ॥ ३ ॥

मनुष्यका हृदय मर्मभेदी बाणोंसे बिंधनेपर भी उतनी पीडाका अनुभव नहीं करता जितनी पीडा उसे दुष्टजनोंके मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं ॥ ३ ॥

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४ ॥

उद्धवजी ! इस विषयमें महात्मालोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं; मैं वही तुम्हें सुनाऊँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो ॥ ४ ॥

---

१. रुजन्ति । २. असताम् ।

केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्[1] ॥ ५ ॥

एक भिक्षुकको दुष्टोंने बहुत सताया था । उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसने पूर्वजन्मके कर्मोंका फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्गार प्रकट किये थे । उन्हींका इस इतिहासमें वर्णन है ॥ ५ ॥

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया ।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः ॥ ६ ॥

प्राचीन समयकी बात है, उज्जैनमें एक ब्राह्मण रहता था । उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी । वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था । क्रोध तो उसे बात-बातमें आ जाया करता था ॥ ६ ॥

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि[2] नार्चिताः ।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः ॥ ७ ॥

उसने अपने जाति-बन्धु और अतिथियोंको कभी मीठी बातसे भी प्रसन्न नहीं किया, खिलाने-पिलानेकी तो बात ही क्या है ? वह धर्म-कर्मसे रीते घरमें रहता और स्वयं भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा समयपर अपने शरीरको भी सुखी नहीं करता था ॥ ७ ॥

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम् ॥ ८ ॥

उसकी कृपणता और बुरे स्वभावके कारण उसके बेटे-बेटी,

१. निजकर्मणः । २. णाप्यनर्चिताः ।

भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दुखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्टचिन्तन किया करते थे। कोई भी उसके मनको प्रिय लगनेवाला व्यवहार नहीं करता था ॥ ८ ॥

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः॥ ९ ॥

वह लोक-परलोक दोनोंसे ही गिर गया था। बस, यक्षोंके समान धनकी रखवाली करता रहता था। उस धनसे वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था। बहुत दिनोंतक इस प्रकार जीवन बितानेसे उसपर पञ्चमहायज्ञके भागी देवता बिगड़ उठे ॥ ९ ॥

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य[1] भूरिद।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः॥ १० ॥

उदार उद्धवजी! पञ्चमहायज्ञके भागियोंके तिरस्कारसे उसके पूर्व-पुण्योंका सहारा—जिसके बलसे अबतक धन टिका हुआ था—जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रमसे इकट्ठा किया था, वह धन उसकी आँखोंके सामने ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया ॥ १० ॥

ज्ञातयो जगृहुः किंचित् किंचिद् दस्यव उद्धव।
दैवतः कालतः किंचिद् ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ ११ ॥

उस नीच ब्राह्मणका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोपसे नष्ट हो गया, कुछ समयके फेरसे मारा गया। कुछ साधारण मनुष्योंने

१. तदभिध्यान०।

ले लिया और बचा-खुचा कर और दण्डके रूपमें शासकोंने हड़प लिया ॥ ११ ॥

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥ १२ ॥

उद्धवजी ! इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही । न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे । इधर उसके सगे-सम्बन्धियोंने भी उसकी ओरसे मुँह मोड़ लिया । अब उसे बड़ी भयानक चिन्ताने घेर लिया ॥ १२ ॥

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

धनके नाशसे उसके हृदयमें बड़ी जलन हुई । उसका मन खेदसे भर गया । आँसुओंके कारण गला रुँध गया । परन्तु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मनमें संसारके प्रति महान् दुःखबुद्धि और उत्कट वैराग्यका उदय हो गया ॥ १३ ॥

स चाहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः ।
न धर्माय कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥ १४ ॥

अब वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा—'हाय ! हाय !! बड़े खेदकी बात है, मैंने इतने दिनोंतक अपनेको व्यर्थ ही इस प्रकार सताया । जिस धनके लिये मैंने सरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्मकर्ममें लगा और न मेरे सुखभोगके ही काम आया ॥ १४ ॥

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥ १५ ॥

१. णार्थः ।

प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। इस लोकमें तो वे धन कमाने और रक्षाकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर धर्म न करनेके कारण नरकमें जाते हैं ॥ १५ ॥

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ १६ ॥

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंपर पानी फेर देता है ॥ १६ ॥

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ १७ ॥

धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है ॥ १७ ॥

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥ १८ ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ १९ ॥

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे ॥ १८-१९ ॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना[1] सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥ २० ॥

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेह-बन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं—सब-के-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं ॥ २० ॥

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु[2] स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥ २१ ॥

ये लोग थोड़े-से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात-की-बातमें सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डाँट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं। यहाँतक कि एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं ॥ २१ ॥

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम् ।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥ २२ ॥

देवताओंके भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मणशरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ—परमार्थका नाश करते हैं, वे अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ २३ ॥

यह मनुष्यशरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है। इसको पाकर भी

१. कारुणिकाः । २. शु वृथा घ्न० ।

ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थोंके धाम धनके चक्करमें फँसा रहे ॥ २३ ॥

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन्[1] बन्धूंश्च भागिनः ।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥ २४ ॥

जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धनके दूसरे भागीदारोंको उनका भाग देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाला कृपण तो अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥ २५ ॥

मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया हूँ । मैंने प्रमादमें अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये । विवेकीलोग जिन साधनोंसे मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हींको मैंने धन इकट्ठा करनेकी व्यर्थ चेष्टामें खो दिया । अब बुढ़ापेमें मैं कौन-सा साधन करूँगा ॥ २५ ॥

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥ २६ ॥

मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों दुखी रहते हैं ? हो-न-हो, अवश्य ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है ॥ २६ ॥

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥ २७ ॥

१. ज्ञातीनन्यांश्च ।

यह मनुष्यशरीर कालके विकराल गालमें पड़ा हुआ है। इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओं और लोगोंसे, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले सकाम कर्मोंसे लाभ ही क्या है? ॥ २७ ॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥ २८ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो उन्होंने मुझे इस दशामें पहुँचाया है और मुझे इस जगत्‌के प्रति यह दुःख-बुद्धि और वैराग्य दिया है। वस्तुतः वैराग्य ही इस संसार-सागरसे पार होनेके लिये नौकाके समान है ॥ २८ ॥

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे[1] यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि ॥ २९ ॥

मैं अब ऐसी अवस्थामें पहुँच गया हूँ। यदि मेरी आयु शेष हो तो मैं आत्मलाभमें ही सन्तुष्ट रहकर अपने परमार्थके सम्बन्धमें सावधान हो जाऊँगा और अब जो समय बच रहा है उसमें अपने शरीरको तपस्याके द्वारा सुखा डालूँगा ॥ २९ ॥

तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥ ३० ॥

तीनों लोकोंके स्वामी देवगण मेरे इस संकल्पका अनुमोदन करें। अभी निराश होनेकी कोई बात नहीं है, क्योंकि राजा खट्वाङ्गने तो दो घड़ीमें ही भगवद्धामकी प्राप्ति कर ली थी ॥ ३० ॥

१. खिलार्थेषु यदि।

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! उस उज्जैननिवासी ब्राह्मणने मन-ही-मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं' और 'मेरे' पनकी गाँठ खोल दी । इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया ॥ ३१ ॥

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः ।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥ ३२ ॥

अब उसके चित्तमें किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्तिके प्रति आसक्ति न रही । उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया । वह पृथ्वीपर स्वच्छन्दरूपसे विचरने लगा । वह भिक्षाके लिये नगर और गाँवोंमें जाता अवश्य था, परन्तु इस प्रकार जाता था कि कोई उसे पहचान न पाता था ॥ ३२ ॥

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।
दृष्ट्वा पर्यभवन्[1] भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥ ३३ ॥

उद्धवजी ! वह भिक्षुक अवधूत बहुत बूढ़ा हो गया था । दुष्ट उसे देखते ही टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते ॥ ३३ ॥

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं[2] कमण्डलुम् ।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन ॥ ३४ ॥

१. पर्यभवंस्तत्र । २. पात्रकमण्डलू ।

कोई उसका दण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक ले जाता। कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, रुद्राक्षमाला और कंथा ही लेकर भाग जाता। कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देते ॥ ३४ ॥

प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः।
अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ॥३५॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि।
यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ॥३६॥

कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई दिखला-दिखलाकर फिर छीन लेते। जब वह अवधूत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी-तटपर भोजन करने बैठता, तो पापी लोग कभी उसके सिरपर मूत देते, तो कभी थूक देते। वे लोग उस मौनी अवधूतको तरह-तरहसे बोलनेके लिये विवश करते और जब वह इसपर भी न बोलता तो उसे पीटते ॥ ३५-३६ ॥

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद् बध्यतां बध्यतामिति ॥३७॥

कोई उसे चोर कहकर डाँटने-डपटने लगता। कोई कहता 'इसे बाँध लो, बाँध लो' और फिर उसे रस्सीसे बाँधने लगते ॥ ३७ ॥

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः ॥३८॥

कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि 'देखो-देखो' अब इस कृपणने धर्मका ढोंग रचा है। धन-सम्पत्ति

जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया; तब इसने भीख माँगनेका रोजगार लिया है ॥ ३८ ॥

अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव ।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद् दृढनिश्चयः ॥३९॥

ओहो! देखो तो सही, यह मोटा-तगड़ा भिखारी धैर्यमें बड़े भारी पर्वतके समान है। यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है। सचमुच यह बगुलेसे भी बढ़कर ढोंगी और दृढ़निश्चयी है ॥ ३९ ॥

इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति[1] च ।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥४०॥

कोई उस अवधूतकी हँसी उड़ाता, तो कोई उसपर अधोवायु छोड़ता। जैसे लोग तोता-मैना आदि पालतू पक्षियोंको बाँध लेते या पिंजड़ेमें बंद कर लेते हैं, वैसे ही उसे भी वे लोग बाँध देते और घरोंमें बंद कर देते ॥ ४० ॥

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं[2] दैहिकं च यत् ।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥४१॥

किन्तु वह सब कुछ चुपचाप सह लेता। उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गरमी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते; परन्तु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता। वह समझता कि यह सब मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ४१ ॥

१. दुर्वादयन्ति। २. दैवं च।

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥४२॥

यद्यपि नीच मनुष्य तरह-तरहके तिरस्कार करके उसे उसके धर्मसे गिरानेकी चेष्टा किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़तासे अपने धर्ममें स्थिर रहता और सात्त्विक धैर्यका आश्रय लेकर कभी-कभी ऐसे उद्गार प्रकट किया करता ॥ ४२ ॥

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥४३॥

ब्राह्मण कहता—मेरे सुख अथवा दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसारचक्रको चला रहा है ॥ ४३ ॥

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥४४॥

सचमुच यह मन बहुत बलवान् है। इसीने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्तियोंकी सृष्टि की है।

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

उन वृत्तियोंके अनुसार ही सात्त्विक, राजस और तामस—अनेकों प्रकारके कर्म होते हैं और कर्मोंके अनुसार ही जीवकी विविध गतियाँ होती हैं ॥ ४४ ॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥४५॥

मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है । उसके साथ रहनेपर भी आत्मा निष्क्रिय ही है । वह ज्ञान शक्तिप्रधान है, मुझ जीवका सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञानसे सब कुछ देखता रहता है । मनके द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है । जब वह मनको स्वीकार करके उसके द्वारा विषयोंका भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मोंके साथ आसक्ति होनेके कारण वह उनसे बँध जाता है ॥ ४५ ॥

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥४६॥

दान, अपने धर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत—इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान्में लग जाय । मनका समाहित हो जाना ही परम योग है ॥ ४६ ॥

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं[1] यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥४७॥

जिसका मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मोंका फल प्राप्त हो चुका है। अब उनसे कुछ लेना बाकी नहीं है। और जिसका मन चञ्चल है अथवा आलस्यसे अभिभूत हो रहा है, उसको इन दानादि शुभकर्मोंसे अबतक कोई लाभ नहीं हुआ ॥ ४७ ॥

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्[2] स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः ॥४८॥

सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं। मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। यह मन बलवान्‌से भी बलवान्, अत्यन्त भयङ्कर देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है, वही देव-देव—इन्द्रियोंका विजेता है ॥ ४८ ॥

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र[3] मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः ॥४९॥

१. न संयतं। २. ह्यभवंश्च। ३. एव।

सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है । इसका आक्रमण असह्य है । यह बाहरी शरीरको ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानोंको भी बेधता रहता है । इसे जीतना बहुत ही कठिन है । मनुष्यको चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रुपर विजय प्राप्त करे; परन्तु होता है यह कि मूर्ख लोग इसे तो जीतनेका प्रयत्न करते नहीं, दूसरे मनुष्योंसे झूठ-मूठ झगड़ा-बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत्‌के लोगोंको ही मित्र-शत्रु, उदासीन बना लेते हैं ॥ ४९ ॥

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥५०॥

साधारणतः मनुष्योंकी बुद्धि अंधी हो रही है । तभी तो वे इस मन:कल्पित शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रमके फंदेमें फँस जाते हैं कि 'यह मैं हूँ और यह दूसरा ।' इसका परिणाम यह होता है कि इस अनन्त अज्ञानान्धकारमें ही भटकते रहते हैं ॥ ५० ॥

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥५१॥

यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दु:खका कारण है, तो उनसे आत्माका क्या सम्बन्ध ? क्योंकि सुख-दु:ख पहुँचानेवाला भी

मिट्टीका शरीर है और भोगनेवाला भी। कभी भोजन आदिके समय यदि अपने दाँतोंसे ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे, तो मनुष्य किसपर क्रोध करेगा? ॥ ५१ ॥

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत्।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥ ५२ ॥

यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःखके कारण हैं, तो भी इस दुःखसे आत्माकी क्या हानि? क्योंकि यदि दुःखके कारण देवता हैं, तो इन्द्रियाभिमानी देवताओंके रूपमें उनके भोक्ता भी तो वे ही हैं और देवता सभी शरीरोंमें एक हैं; जो देवता एक शरीरमें हैं, वे ही दूसरेमें भी हैं। ऐसी दशामें यदि अपने ही शरीरके किसी एक अंगसे दूसरे अंगको चोट लग जाय तो भला, किसपर क्रोध किया जायगा? ॥ ५२ ॥

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः।
नह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥ ५३ ॥

यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःखका कारण है तो वह तो अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ और है ही नहीं। यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या है। इसलिये न सुख है, न दुःख; फिर क्रोध कैसा? क्रोधका निमित्त ही क्या? ॥ ५३ ॥

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥ ५४ ॥

यदि ग्रहोंको सुख-दुःखका निमित्त मानें, तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि ? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीरपर ही होता है। ग्रहोंकी पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीरको ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरोंसे सर्वथा परे है। तब भला, वह किसपर क्रोध करे ? ॥ ५४ ॥

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै नहि कर्ममूलम् ॥ ५५ ॥

यदि कर्मोंको ही सुख-दुःखका कारण मानें तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड और चेतन—उभयरूप होनेपर ही हो सकते हैं (जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसीसे कर्म हो सकते हैं; अतः वह विकारयुक्त होनेके कारण जड होनी चाहिये और हिताहितका ज्ञान रखनेके कारण चेतन।) किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है ! इस प्रकार कर्मोंका तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता। फिर क्रोध किसपर करें ? ॥ ५५ ॥

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥५६॥

यदि ऐसा मानें कि काल ही सुख-दुःखका कारण है, तो आत्मापर उसका क्या प्रभाव? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे आग आगको नहीं जला सकती और बर्फ बर्फको नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्माको ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किसपर क्रोध किया जाय? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत है॥ ५६॥

न केनचित् क्वापि कथंचनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः॥५७॥

आत्मा प्रकृतिके स्वरूप, धर्म, कार्य, सम्बन्ध और गन्धसे भी रहित है। उसे कभी कहीं किसीके द्वारा किसी भी प्रकारसे द्वन्द्वका स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकनेवाले अहङ्कारको ही होता है। जो इस बातको जान लेता है, वह फिर किसी भी भयके निमित्तसे भयभीत नहीं होता॥ ५७॥

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥५८॥

बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परमात्मनिष्ठाका आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रेमके दाता भगवान्के चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञानसागरको अनायास ही पार कर दूँगा ॥ ५८ ॥

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम् ॥५९॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! उस ब्राह्मणका धन क्या नष्ट हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। अब वह संसारसे विरक्त हो गया था और संन्यास लेकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचर रहा था। यद्यपि दुष्टोंने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्ममें अटल रहा, तनिक भी विचलित न हुआ। उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकारका गीत गाया करता था ॥ ५९ ॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥६०॥

उद्धवजी ! इस संसारमें मनुष्यको कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्तका भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रुके भेद अज्ञानकल्पित हैं ॥ ६० ॥

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः ॥६१॥

इसलिये प्यारे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको वशमें कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधनका इतना ही सार-संग्रह है ॥ ६१ ॥

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥६२॥

यह भिक्षुकका गीत क्या है, मूर्तिमान् ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्रचित्तसे इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है वह कभी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके वशमें नहीं होता। उनके बीचमें भी वह सिंहके समान दहाड़ता रहता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

सांख्ययोग

श्रीभगवानुवाच

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम् ॥१॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं – प्यारे उद्धव ! अब मैं तुम्हें सांख्यशास्त्रका निर्णय सुनाता हूँ । प्राचीन कालके बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने इसका निश्चय किया है । जब जीव इसे भलीभाँति समझ लेता है, तो वह भेदबुद्धिमूलक सुख-दुःखादिरूप भ्रमका तत्काल त्याग कर देता है ॥ १ ॥

आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २ ॥

युगोंसे पूर्व प्रलयकालमें आदिसत्ययुगमें और जब कभी मनुष्य विवेकनिपुण होते हैं—इन सभी अवस्थाओंमें यह सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा, जगत् और जीव विकल्पशून्य किसी प्रकारके भेद-भावसे रहित केवल ब्रह्म ही होते हैं ॥ २ ॥

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत् ॥ ३ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्ममें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है, वह केवल—अद्वितीय सत्य है; मन और वाणीकी उसमें गति नहीं है । वह ब्रह्म ही माया और उसमें प्रतिबिम्बित जीवके रूपमें—दृश्य और द्रष्टाके रूपमें—दो भागोंमें विभक्त-सा हो गया ॥ ३ ॥

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका[1] ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥

उनमेंसे एक वस्तुको प्रकृति कहते हैं । उसीने जगत्में कार्य और कारणका रूप धारण किया है । दूसरी वस्तुको, जो ज्ञानस्वरूप है, पुरुष कहते हैं ॥ ४ ॥

---

१. तिश्रोभयात्मिका ।

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च[1] ॥ ५ ॥

उद्धवजी ! मैंने ही जीवोंके शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार प्रकृतिको क्षुब्ध किया। तब उससे सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुए ॥ ५ ॥

तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातोऽहंकारो[2] यो विमोहनः ॥ ६ ॥

उनसे क्रिया-शक्तिप्रधान सूत्र और ज्ञानशक्तिप्रधान महत्तत्त्व प्रकट हुए। वे दोनों परस्पर मिले हुए ही हैं। महत्तत्त्वमें विकार होनेपर अहङ्कार व्यक्त हुआ। यह अहङ्कार ही जीवोंको मोहमें डालनेवाला है ॥ ६ ॥

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥ ७ ॥

वह तीन प्रकारका है—सात्त्विक, राजस और तामस। अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय और मनका कारण है; इसलिये वह जड-चेतन-उभयात्मक है ॥ ७ ॥

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥ ८ ॥

तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्राएँ और उनसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति हुई। तथा राजस अहङ्कारसे इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहङ्कारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता* प्रकट हुए ॥ ८ ॥

---

[1] वा। [2] योऽहङ्कारो वि०।

* पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता हैं।

मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्य कारिणः।[1]
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥

ये सभी पदार्थ मेरी प्रेरणासे एकत्र होकर परस्पर मिल गये और इन्होंने यह ब्रह्माण्डरूप अण्ड उत्पन्न किया। यह अण्ड मेरा उत्तम निवासस्थान है ॥ ९ ॥

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ।[2]
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥ १० ॥

जब वह अण्ड जलमें स्थित हो गया, तब मैं नारायणरूपसे इसमें विराजमान हो गया। मेरी नाभिसे विश्वकमलकी उत्पत्ति हुई। उसीपर ब्रह्माका आविर्भाव हुआ ॥ १० ॥

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात्।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ॥ ११ ॥

विश्वसमष्टिके अन्तःकरण ब्रह्माने पहले बहुत बड़ी तपस्या की। उसके बाद मेरा कृपा-प्रसाद प्राप्त करके रजोगुणके द्वारा भूः, भुवः, स्वः, अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—इन तीन लोकोंकी और इनके लोकपालोंकी रचना की ॥ ११ ॥

देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानां च भुवः पदम्।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम् ॥ १२ ॥

देवताओंके निवासके लिये स्वर्लोक, भूत-प्रेतादिके लिये भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) और मनुष्य आदिके लिये भूर्लोक (पृथ्वीलोक) का निश्चय किया गया। इन तीनों लोकोंसे ऊपर महर्लोक, तपलोक आदि सिद्धोंके निवासस्थान हुए ॥ १२ ॥

---

१. तया। २. सलिलसंस्थिते।

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः ।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ॥ १३ ॥

सृष्टिकार्यमें समर्थ ब्रह्माजीने असुर और नागोंके लिये पृथ्वीके नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये। इन्हीं तीनों लोकोंमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके अनुसार विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं ॥ १३ ॥

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥ १४ ॥

योग, तपस्या और संन्यासके द्वारा महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोकरूप उत्तम गति प्राप्त होती है तथा भक्तियोगसे मेरा परम धाम मिलता है ॥ १४ ॥

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत् ।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥ १५ ॥

यह सारा जगत् कर्म और उनके संस्कारोंसे युक्त है। मैं ही कालरूपसे कर्मोंके अनुसार उनके फलका विधान करता हूँ। इस गुणप्रवाहमें पड़कर जीव कभी डूब जाता है और कभी ऊपर आ जाता है—कभी उसकी अधोगति होती है और कभी उसे पुण्यगति—उच्चगति प्राप्त हो जाती है ॥ १५ ॥

अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति ।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १६ ॥

जगत्‌में छोटे-बड़े, मोटे-पतले—जितने भी पदार्थ बनते हैं; सब प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही सिद्ध होते हैं ॥ १६ ॥

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन् ।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥ १७ ॥
यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम् ।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते ॥ १८ ॥

जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है । विकार तो केवल व्यवहारके लिये की हुई कल्पना-मात्रा है । जैसे कंगन-कुण्डल आदि सोनेके विकार और घड़े-सकोरे आदि मिट्टीके विकार पहले सोना या मिट्टी ही थे, बादमें भी सोना या मिट्टी ही रहेंगे । अतः बीचमें भी वे सोना या मिट्टी ही हैं । पूर्ववर्ती कारण (महत्तत्त्व आदि) भी जिस परम कारणको उपादान बनाकर अपर (अहंकार आदि) कार्यवर्गकी सृष्टि करते हैं, वही उनकी अपेक्षा भी परम सत्य है । तात्पर्य यह कि जब जो जिस किसी भी कार्यके आदि और अन्तमें विद्यमान रहता है, वही सत्य है ॥ १७-१८ ॥

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥ १९ ॥

इस प्रपञ्चका उपादान-कारण प्रकृति है, परमात्मा अधिष्ठान हैं और इसको प्रकट करनेवाला काल है । व्यवहार-कालकी यह त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है और मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ ॥ १९ ॥

सर्गः प्रवर्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः ।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम् ॥ २० ॥

जबतक परमात्माकी ईक्षणशक्ति अपना काम करती रहती है,

जबतक उनकी पालन-प्रवृत्ति बनी रहती है, तबतक जीवोंके कर्म-भोगके लिये कारण-कार्यरूपसे अथवा पिता-पुत्रादिके रूपसे यह सृष्टिचक्र निरन्तर चलता रहता है ॥ २० ॥

विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः ।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥ २१ ॥

यह विराट् ही विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीलाभूमि है । जब मैं कालरूपसे इसमें व्याप्त होता हूँ, प्रलयका संकल्प करता हूँ, तब यह भुवनोंके साथ विनाशरूप विभागके योग्य हो जाता है ॥ २१ ॥

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं[1] धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥ २२ ॥

उसके लीन होनेकी प्रक्रिया यह है कि प्राणियोंके शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें और भूमि गन्ध-तन्मात्रामें लीन हो जाती है ॥ २२ ॥

अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥ २३ ॥

गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें और तेज रूपमें लीन हो जाता है ॥ २३ ॥

रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥ २४ ॥

रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश

१· मर्त्योऽन्नम् ।

शब्दतन्मात्रामें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने कारण देवताओंमें और अन्ततः राजस-अहङ्कारमें समा जाती हैं ॥ २४ ॥

योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥ २५ ॥

हे सौम्य! राजस-अहङ्कार अपने नियन्ता सात्त्विक-अहङ्काररूप मनमें, शब्दतन्मात्रा पञ्चभूतोंके कारण तामस-अहङ्कारमें और सारे जगत्को मोहित करनेमें समर्थ त्रिविध अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है ॥ २५ ॥

स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये ॥ २६ ॥

ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति-प्रधान महत्तत्त्व अपने कारण गुणोंमें लीन हो जाता है। गुण अव्यक्त प्रकृतिमें और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी कालमें लीन हो जाती है ॥ २६ ॥

कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥ २७ ॥

काल मायामय जीवमें और जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है। आत्मा किसीमें लीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान एवं अवधि है ॥ २७ ॥

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥ २८ ॥

उद्धवजी! जो इस प्रकार विवेकदृष्टिसे देखता है, उसके

चित्तमें यह प्रपञ्चका भ्रम हो ही नहीं सकता । यदि कदाचित् उसकी स्फूर्ति हो भी जाय, तो वह अधिक कालतक हृदयमें ठहर कैसे सकता है ? क्या सूर्योदय होनेपर भी आकाशमें अन्धकार ठहर सकता है ॥ २८ ॥

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥ २९ ॥

उद्धवजी ! मैं कार्य और कारण दोनोंका ही साक्षी हूँ । मैंने तुम्हें सृष्टिसे प्रलय और प्रलयसे सृष्टितककी सांख्यविधि बतला दी । इससे सन्देहकी गाँठ कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत् ।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषप्रवर उद्धवजी ! प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग गुणोंका प्रकाश होता है । उनके कारण प्राणियोंके

१. भेषज ।

स्वभावमें भी भेद हो जाता है। अब मैं बतलाता हूँ कि किस गुणसे कैसा-कैसा स्वभाव बनता है। तुम सावधानीसे सुनो ॥ १ ॥

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥ २ ॥

सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं—शम (मनःसंयम), दम (इन्द्रियनिग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता)। विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, संतोष, त्याग, विषयोंके प्रति अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा (पाप करनेमें स्वाभाविक संकोच), आत्मरति, दान, विनय और सरलता आदि ॥ २ ॥

काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम्।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः॥ ३ ॥

रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं—इच्छा, प्रयत्न, घमंड, तृष्णा (असंतोष), ऐंठ या अकड़, देवताओंसे धन आदिकी याचना, भेदबुद्धि, विषयभोग, युद्धादिके लिये मदजनित उत्साह, अपने यशमें प्रेम, हास्य, पराक्रम और हठपूर्वक उद्योग करना आदि ॥ ३ ॥

क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राऽऽशा भीरनुद्यमः॥ ४ ॥

तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं—क्रोध (असहिष्णुता), लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अकर्मण्यता आदि ॥ ४ ॥

सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः संनिपातमथो शृणु॥ ५ ॥

इस प्रकार क्रमसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश

वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया। अब उनके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन सुनो ॥ ५ ॥

संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६ ॥

उद्धवजी ! 'मैं हूँ और यह मेरा है' इस प्रकारकी बुद्धिमें तीनों गुणोंका मिश्रण है। जिन मन, शब्दादि विषय, इन्द्रिय और प्राणोंके कारण पूर्वोक्त वृत्तियोंका उदय होता है, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस हैं ॥ ६ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां संनिकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७ ॥

जब मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें संलग्न रहता है, तब उसे सत्त्वगुणसे श्रद्धा, रजोगुणसे रति और तमोगुणसे धनकी प्राप्ति होती है। यह भी गुणोंका मिश्रण ही है ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥

जिस समय मनुष्य सकाम कर्म, गृहस्थाश्रम और स्वधर्माचरणमें अधिक प्रीति रखता है, उस समय भी उसमें तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये ॥ ८ ॥

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥

मानसिक शान्ति और जितेन्द्रियता आदि गुणोंसे सत्त्वगुणी पुरुषकी, कामना आदिसे रजोगुणी पुरुषकी और क्रोध-हिंसा आदिसे तमोगुणी पुरुषकी पहचान करे ॥ ९ ॥

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥१०॥

पुरुष हो, चाहे स्त्री—जब वह निष्काम होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा मेरी आराधना करे, तब उसे सत्त्वगुणी जानना चाहिये ॥ १० ॥

यदा आशिष आशास्य मां भजेत[1] स्वकर्मभिः ।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम् ॥११॥

सकामभावसे अपने कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करनेवाला रजोगुणी है और जो अपने शत्रुकी मृत्यु आदिके लिये मेरा भजन-पूजन करे, उसे तमोगुणी समझना चाहिये ॥ ११ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥१२॥

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका कारण जीवका चित्त है । उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । इन्हीं गुणोंके द्वारा जीव शरीर अथवा धन आदिमें आसक्त होकर बन्धनमें पड़ जाता है ॥१२॥

यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥१३॥

सत्त्व-गुण प्रकाशक, निर्मल और शान्त है । जिस समय वह रजोगुण और तमोगुणको दबाकर बढ़ता है, उस समय पुरुष सुख, धर्म और ज्ञान आदिका भाजन हो जाता है ॥ १३ ॥

यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥१४॥

---

1. यजेत ।

रजोगुण भेदबुद्धिका कारण है। उसका स्वभाव है आसक्ति और प्रवृत्ति। जिस समय तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है, उस समय मनुष्य दुःख, कर्म, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होता है ॥ १४ ॥

यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाऽऽशया ॥ १५॥

तमोगुणका स्वरूप है अज्ञान। उसका स्वभाव है आलस्य और बुद्धिकी मूढ़ता। जब वह बढ़कर सत्त्वगुण और रजोगुणको दबा लेता है, तब प्राणी तरह-तरहकी आशाएँ करता है, शोक-मोहमें पड़ जाता है, हिंसा करने लगता है अथवा निद्रा-आलस्यके वशीभूत होकर पड़ रहता है ॥ १५ ॥

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥ १६॥

जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियाँ शान्त हों, देह निर्भय हो और मनमें आसक्ति न हो, तब सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये। सत्त्वगुण मेरी प्राप्तिका साधन है ॥ १६ ॥

विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥ १७॥

जब काम करते-करते जीवकी बुद्धि चञ्चल, ज्ञानेन्द्रियाँ असन्तुष्ट, कर्मेन्द्रियाँ विकारयुक्त, मन भ्रान्त और शरीर अस्वस्थ हो जाय, तब समझना चाहिये कि रजोगुण जोर पकड़ रहा है ॥ १७ ॥

सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥ १८॥

जब चित्त ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंको ठीक-ठीक समझनेमें असमर्थ हो जाय और खिन्न होकर लीन होने लगे, मन सूना-सा हो जाय तथा अज्ञान और विषादकी वृद्धि हो, तब समझना चाहिये कि तमोगुण वृद्धिपर है ॥ १८ ॥

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥१९॥

उद्धवजी ! सत्त्वगुणके बढ़नेपर देवताओंका, रजोगुणके बढ़नेपर असुरोंका और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल बढ़ जाता है (वृत्तियोंमें भी क्रमशः सत्त्वादि गुणोंकी अधिकता होनेपर देवत्व, असुरत्व और राक्षसत्वप्रधान निवृत्ति, प्रवृत्ति अथवा मोहकी प्रधानता हो जाती है) ॥ १९ ॥

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥२०॥

सत्त्वगुणसे जाग्रत्-अवस्था, रजोगुणसे स्वप्नावस्था और तमोगुणसे सुषुप्ति-अवस्था होती है । तुरीय इन तीनोंमें एक-सा व्याप्त रहता है । वही शुद्ध और एकरस आत्मा है ॥ २० ॥

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ।
तमसाधोऽध आमुख्याद् रजसान्तरचारिणः ॥२१॥

वेदोंके अभ्यासमें तत्पर ब्राह्मण सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपर-के लोकोंमें जाते हैं । तमोगुणसे जीवोंको वृक्षादिपर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है और रजोगुणसे मनुष्य-शरीर मिलता है ॥ २१ ॥

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ।
तमोलयास्तु निरयं[1] यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥२२॥

जिसकी मृत्यु सत्त्वगुणोंकी वृद्धिके समय होती है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; जिसकी रजोगुणकी वृद्धिके समय होती है, उसे मनुष्यलोक मिलता है और जो तमोगुणकी वृद्धिके समय मरता है, उसे नरककी प्राप्ति होती है। परन्तु जो पुरुष त्रिगुणातीत—जीवन्मुक्त हो गये हैं, उन्हें मेरी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥२३॥

जब अपने धर्मका आचरण मुझे समर्पित करके अथवा निष्काम भावसे किया जाता है, तब वह सात्त्विक होता है। जिस कर्मके अनुष्ठानमें किसी फलकी कामना रहती है, वह राजसिक होता है और जिस कर्ममें किसीको सताने अथवा दिखाने आदिका भाव रहता है, वह तामसिक होता है ॥ २३ ॥

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥२४॥

शुद्ध आत्माका ज्ञान सात्त्विक है। उसको कर्ता-भोक्ता समझना राजस ज्ञान है और उसे शरीर समझना तो सर्वथा तामसिक है। इन तीनोंसे विलक्षण मेरे स्वरूपका वास्तविक ज्ञान निर्गुण ज्ञान है ॥ २४ ॥

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥२५॥

---

१. नरकं ।

वनमें रहना सात्त्विक निवास है, गाँवमें रहना राजस है और जूआघरमें रहना तामसिक है। इन सबसे बढ़कर मेरे मन्दिरमें रहना निर्गुणनिवास है॥ २५॥

सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥ २६॥

अनासक्तभावसे कर्म करनेवाला सात्त्विक है, रागान्ध होकर कर्म करनेवाला राजसिक है और पूर्वापरविचारसे रहित होकर करनेवाला तामसिक है। इनके अतिरिक्त जो पुरुष केवल मेरी शरणमें रहकर बिना अहङ्कारके कर्म करता है, वह निर्गुण कर्ता है॥ २६॥

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥ २७॥

आत्मज्ञानविषयक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है, कर्मविषयक श्रद्धा राजस है और जो श्रद्धा अधर्ममें होती है, वह तामस है तथा मेरी सेवामें जो श्रद्धा है, वह निर्गुण श्रद्धा है॥ २७॥

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि॥ २८॥

आरोग्यदायक, पवित्र और अनायास प्राप्त भोजन सात्त्विक है। रसनेन्द्रियको रुचिकर और स्वादकी दृष्टिसे युक्त आहार राजस है तथा दुःखदायी और अपवित्र आहार तामस है॥ २८॥

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥ २९॥

अन्तर्मुखतासे— आत्मचिन्तनसे प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक

है। बहिर्मुखतासे—विषयोंसे प्राप्त होनेवाला राजस है तथा अज्ञान और दीनतासे प्राप्त होनेवाला सुख तामस है और जो सुख मुझसे मिलता है, वह तो गुणातीत और अप्राकृत है॥ २९॥

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥३०॥

उद्धवजी! द्रव्य (वस्तु), देश (स्थान), फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, देव-मनुष्य-तिर्यगादि शरीर और निष्ठा—सभी त्रिगुणात्मक हैं॥ ३०॥

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः[1]।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥३१॥

नररत्न! पुरुष और प्रकृतिके आश्रित जितने भी भाव हैं, सभी गुणमय हैं—वे चाहे नेत्रादि इन्द्रियोंसे अनुभव किये हुए हों, शास्त्रोंके द्वारा लोक-लोकान्तरोंके सम्बन्धमें सुने गये हों अथवा बुद्धिके द्वारा सोचे-विचारे गये हों॥ ३१॥

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥३२॥

जीवको जितनी भी योनियाँ अथवा गतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब उनके गुणों और कर्मोंके अनुसार ही होती हैं। हे सौम्य! सब-के-सब गुण चित्तसे ही सम्बन्ध रखते हैं (इसलिये जीव उन्हें अनायास ही जीत सकता है)। जो जीव उनपर विजय प्राप्त कर

१. निष्ठिताः।

लेता है, वह भक्तियोगके द्वारा मुझमें ही परिनिष्ठित हो जाता है और अन्ततः मेरा वास्तविक स्वरूप, जिसे मोक्ष भी कहते हैं, प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥३३॥

यह मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। इसी शरीरमें तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूप विज्ञानकी प्राप्ति सम्भव है; इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुषोंको गुणोंकी आसक्ति हटाकर मेरा भजन करना चाहिये ॥ ३३ ॥

निस्सङ्गो मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥३४॥

विचारशील पुरुषको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे सत्त्वगुणके सेवनसे रजोगुण और तमोगुणको जीत ले, इन्द्रियोंको वशमें कर ले और मेरे स्वरूपको समझकर मेरे भजनमें लग जाय। आसक्तिको लेशमात्र भी न रहने दे ॥ ३४ ॥

सत्त्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः ।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥३५॥

योगयुक्तिसे चित्तवृत्तियोंको शान्त करके निरपेक्षताके द्वारा सत्त्वगुणपर भी विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार गुणोंसे मुक्त होकर जीव अपने जीवभावको छोड़ देता है और मुझसे एक हो जाता है ॥ ३५ ॥

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः ।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥३६॥

जीव लिङ्गशरीररूप अपनी उपाधि जीवत्वसे तथा अन्तःकरणमें उदय होनेवाली सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंसे मुक्त होकर मुझ ब्रह्मकी अनुभूतिसे एकत्वदर्शनसे पूर्ण हो जाता है और वह फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी विषयमें नहीं जाता ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

पुरूरवाकी वैराग्योक्ति

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! यह मनुष्य-शरीर मेरे स्वरूपज्ञानकी प्राप्तिका—मेरी प्राप्तिका मुख्य साधन है। इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेमसे मेरी भक्ति करता है, वह अन्तःकरणमें स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १ ॥

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः।
वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यते वस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥

१. ध्ववस्थितः।

जीवोंकी सभी योनियाँ, सभी गतियाँ त्रिगुणमयी हैं। जीव ज्ञाननिष्ठाके द्वारा उनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। सत्त्व, रज आदि गुण जो दीख रहे हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, मायामात्र हैं। ज्ञान हो जानेके बाद पुरुष उनके बीचमें रहनेपर भी उनके द्वारा व्यवहार करनेपर भी उनसे बँधता नहीं। इसका कारण यह है कि उन गुणोंकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है ॥ २ ॥

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ३ ॥

साधारण लोगोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जो लोग विषयोंके सेवन और उदरपोषणमें ही लगे हुए हैं, उन असत् पुरुषोंका सङ्ग कभी न करें; क्योंकि उनका अनुगमन करनेवाले पुरुषकी वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अन्धेके सहारे चलनेवाले अंधेकी। उसे तो घोर अन्धकारमें ही भटकना पड़ता है ॥ ३ ॥

ऐलः[1] सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान्मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे[2] ॥ ४ ॥

उद्धवजी! पहले तो परम यशस्वी सम्राट् इलानन्दन पुरूरवा उर्वशीके विरहसे अत्यन्त बेसुध हो गया था। पीछे शोक हट जाने-पर उसे बड़ा वैराग्य हुआ और तब उसने यह गाथा गायी ॥ ४ ॥

त्यक्त्वाऽऽत्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥ ५ ॥

राजा पुरूरवा नग्न होकर पागलकी भाँति अपनेको छोड़कर

---

१. ऐडः। २. शोकसंगरे।

भागती हुई उर्वशीके पीछे अत्यन्त विह्वल होकर दौड़ने लगा और कहने लगा—'देवि ! निष्ठुरहृदये ! थोड़ी देर ठहर जा, भाग मत' ॥ ५ ॥

कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः ।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥ ६ ॥

उर्वशीने उनका चित्त आकृष्ट कर लिया था । उन्हें तृप्ति नहीं हुई थी । वे क्षुद्र विषयोंके सेवनमें इतने डूब गये थे कि उन्हें वर्षोंकी रात्रियाँ न जाती मालूम पड़ीं और न तो आती ॥ ६ ॥

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः ।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः ॥ ७ ॥

पुरूरवाने कहा—हाय-हाय ! भला, मेरी मूढ़ता तो देखो, कामवासनाने मेरे चित्तको कितना कलुषित कर दिया । उर्वशीने अपनी बाहुओंसे मेरा ऐसा गला पकड़ा कि मैंने आयुके न जाने कितने वर्ष खो दिये । ओह ! विस्मृतिकी भी एक सीमा होती है ॥ ७ ॥

नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया ।
मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥ ८ ॥

हाय-हाय ! इसने मुझे लूट लिया । सूर्य अस्त हो गया या उदित हुआ—यह भी मैं न जान सका । बड़े खेदकी बात है कि बहुत-से वर्षोंके दिन-पर-दिन बीतते गये और मुझे मालूमतक न पड़ा ॥ ८ ॥

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः ।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥ ९ ॥

अहो। आश्चर्य है ! मेरे मनमें इतना मोह बढ़ गया, जिसने नरदेव-शिखामणि चक्रवर्ती सम्राट् मुझ पुरूरवाको भी स्त्रियोंका क्रीडा-मृग (खिलौना) बना दिया ॥ ९ ॥

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद् रुदन् ॥ १० ॥

देखो; मैं प्रजाको मर्यादामें रखनेवाला सम्राट् हूँ। वह मुझे और मेरे राजपाटको तिनकेकी तरह छोड़कर जाने लगी और मैं पागल होकर नंग-धड़ंग रोता-बिलखता उस स्त्रीके पीछे दौड़ पड़ा। हाय ! हाय ! यह भी कोई जीवन है ॥ १० ॥

कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा ।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः ॥ ११ ॥

मैं गधेकी तरह दुलत्तियाँ सहकर भी स्त्रीके पीछे-पीछे दौड़ता रहा; फिर मुझमें प्रभाव, तेज और स्वामित्व भला, कैसे रह सकता है ॥ ११ ॥

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥ १२ ॥

स्त्रीने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्याससे भी कोई लाभ नहीं और इसमें संदेह नहीं कि उसका एकान्तसेवन और मौन भी निष्फल है ॥ १२ ॥

स्वार्थस्याकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥ १३ ॥

१. यदसौ ।

मुझे अपने ही हानि-लाभका पता नहीं, फिर भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता हूँ। मुझ मूर्खको धिक्कार है। हाय! हाय! मैं चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी गधे और बैलकी तरह स्त्रीके फंदेमें फँस गया ॥ १३ ॥

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् ।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥१४॥

मैं वर्षोंतक उर्वशीके होठोंकी मादक मदिरा पीता रहा, पर मेरी कामवासना तृप्त न हुई। सच है, कहीं आहुतियोंसे अग्निकी तृप्ति हुई है ॥ १४ ॥

पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥१५॥

उस कुलटाने मेरा चित्त चुरा लिया। आत्माराम जीवन्मुक्तोंके स्वामी इन्द्रियातीत भगवान्‌को छोड़कर और ऐसा कौन है, जो मुझे उसके फंदेसे निकाल सके ॥ १५ ॥

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥१६॥

उर्वशीने तो मुझे वैदिक सूक्तके वचनोंद्वारा यथार्थ बात कहकर समझाया भी था; परन्तु मेरी बुद्धि ऐसी मारी गयी कि मेरे मनका वह भयङ्कर मोह तब भी मिटा नहीं। जब मेरी इन्द्रियाँ ही मेरे हाथके बाहर हो गयीं, तब मैं समझता भी कैसे ॥ १६ ॥

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥

जो रस्सीके स्वरूपको न जानकर उसमें सर्पकी कल्पना कर रहा है और दुखी हो रहा है, रस्सीने उसका क्या बिगाड़ा है ? इसी प्रकार इस उर्वशीने भी हमारा क्या बिगाड़ा ? क्योंकि स्वयं मैं ही अजितेन्द्रिय होनेके कारण अपराधी हूँ ॥ १७ ॥

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥१८॥

कहाँ तो यह मैला-कुचैला, दुर्गन्धसे भरा अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुण ! परन्तु मैंने अज्ञानवश असुन्दरमें सुन्दरका आरोप कर लिया ॥ १८ ॥

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥१९॥

यह शरीर माता-पिताका सर्वस्व है अथवा पत्नीकी सम्पत्ति ? यह स्वामीकी मोल ली हुई वस्तु है, आगका ईंधन है अथवा कुत्ते और गीधोंका भोजन ? इसे अपना कहें अथवा सुहृद्‌-सम्बन्धियोंका ? बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई निश्चय नहीं होता ॥ १९ ॥

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च[1] मुखं स्त्रियाः ॥२०॥

यह शरीर मल-मूत्रसे भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है । इसका अन्त यही है कि पक्षी खाकर विष्ठा कर दें, इसके सड़ जानेपर इसमें कीड़े पड़ जायँ अथवा जला देनेपर यह राखका ढेर हो जाय । ऐसे शरीरपर लोग लट्टू हो जाते हैं और कहने लगते हैं—अहो !

१. सुमुखं ।

इस स्त्रीका मुखड़ा कितना सुन्दर है। नाक कितनी सुघड़ है और मन्द-मन्द मुसकान कितना मनोहर है ॥ २० ॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये[1] रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥ २१ ॥

यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेदा, मज्जा और हड्डियोंका ढेर और मल-मूत्र तथा पीबसे भरा हुआ है। यदि मनुष्य इसमें रमता है, तो मल-मूत्रके कीड़ोंमें और उसमें अन्तर ही क्या है ॥ २१ ॥

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥ २२ ॥

इसलिये अपनी भलाई समझनेवाले विवेकी मनुष्यको चाहिये कि स्त्रियों और स्त्रीलम्पट पुरुषोंका सङ्ग न करे। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है; अन्यथा विकारका कोई अवसर ही नहीं है ॥ २२ ॥

अदृष्टादश्रुताद् भावान्न भाव उपजायते ।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः ॥ २३ ॥

जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मनमें विकार नहीं होता। जो लोग विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥ २४ ॥

१. विण्मूत्रपूयैः ।

अतः वाणी, कान और मन आदि इन्द्रियोंसे स्त्रियों और स्त्रीलम्पटोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये । मेरे-जैसे लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं हैं ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ २५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! राजराजेश्वर पुरूरवाके मनमें जब इस तरहके उद्‌गार उठने लगे, तब उसने उर्वशीलोकका परित्याग कर दिया । अब ज्ञानोदय होनेके कारण उसका मोह जाता रहा और उसने अपने हृदयमें ही आत्मस्वरूपसे मेरा साक्षात्कार कर लिया और वह शान्तभावमें स्थित हो गया ॥ २५ ॥

ततो दुस्सङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एतस्य च्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥ २६ ॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पुरूरवाकी भाँति कुसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे । संत पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्ट कर देंगे ॥ २६ ॥

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ २७ ॥

संत पुरुषोंका लक्षण यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तुकी

अपेक्षा नहीं होती। उनका चित्त मुझमें लगा रहता है। उनके हृदयमें शान्तिका अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें सब रूपसे स्थित भगवान्‌का ही दर्शन करते हैं। उनमें अहङ्कारका लेश भी नहीं होता, फिर ममताकी तो सम्भावना ही कहाँ है। वे सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें एकरस रहते हैं तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ-सम्बन्धी किसी प्रकारका भी परिग्रह नहीं रखते ॥ २७ ॥

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥ २८ ॥

परमभाग्यवान् उद्धवजी ! संतोंके सौभाग्यकी महिमा कौन कहे ? उनके पास सदा-सर्वदा मेरी लीला-कथाएँ हुआ करती हैं। मेरी कथाएँ मनुष्योंके लिये परम हितकर हैं; जो उनका सेवन करते हैं, उनके सारे पाप-तापोंको वे धो डालती हैं ॥ २८ ॥

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥ २९ ॥

जो लोग आदर और श्रद्धासे मेरी लीला-कथाओंका श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं ॥ २९ ॥

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥ ३० ॥

उद्धवजी ! मैं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुणगणोंका आश्रय

१. पराम् ।

हूँ। मेरा स्वरूप है—केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा। मैं साक्षाद् परब्रह्म हूँ। जिसे मेरी भक्ति मिल गयी, वह तो संत हो गया। अब उसे कुछ भी पाना शेष नहीं है ॥ ३० ॥

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥ ३१ ॥

उनकी तो बात ही क्या—जिसने उन संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी भी कर्मजडता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्निभगवान्‌का आश्रय ले लिया उसे शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥ ३२ ॥

जो इस घोर संसारसागरमें डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये दृढ़ नौका ॥ ३२ ॥

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥ ३३ ॥

जैसे अन्नसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं ही दीन-दुखियोंका परम रक्षक हूँ, जैसे मनुष्यके लिये परलोकमें धर्म ही एकमात्र पूँजी है—वैसे ही जो लोग संसारसे भयभीत हैं, उनके लिये संतजन ही परम आश्रय हैं ॥ ३३ ॥

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥ ३४ ॥

जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपनेको तथा भगवान्को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। संत अनुग्रहशील देवता हैं। संत अपने हितैषी सुहृद् हैं। संत अपने प्रियतम आत्मा हैं। और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही संतके रूपमें विद्यमान हूँ॥ ३४॥

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह॥ ३५॥

प्रिय उद्धव! आत्मसाक्षात्कार होते ही इलानन्दन पुरूरवाको उर्वशीके लोककी स्पृहा न रही। उसकी सारी आसक्तियाँ मिट गयीं और वह आत्माराम होकर स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगा॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

क्रियायोगका वर्णन

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ॥ १॥

उद्धवजीने पूछा—भक्तवत्सल श्रीकृष्ण! जिस क्रियायोगका आश्रय

लेकर जो भक्तजन जिस प्रकारसे, जिस उद्देश्यसे आपकी अर्चा-पूजा करते हैं, आप अपने उस आराधनरूप क्रियायोगका वर्णन कीजिये ॥१॥

एतद् वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम् ।
नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २ ॥

देवर्षि नारद, भगवान् व्यासदेव और आचार्य बृहस्पति आदि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यह बात बार-बार कहते हैं कि क्रियायोगके द्वारा आपकी आराधना ही मनुष्योंके परम कल्याणकी साधना है ॥ २ ॥

निस्सृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः ।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः ॥ ३ ॥

यह क्रियायोग पहले-पहल आपके मुखारविन्दसे ही निकला था । आपसे ही ग्रहण करके इसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र भृगु आदि महर्षियोंको और भगवान् शङ्करने अपनी अर्द्धाङ्गिनी भगवती पार्वतीजीको उपदेश किया था ॥ ३ ॥

एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् ।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥ ४ ॥

मर्यादारक्षक प्रभो ! यह क्रियायोग ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णों और ब्रह्मचारी-गृहस्थ आदि आश्रमोंके लिये भी परम कल्याणकारी है । मैं तो ऐसा समझता हूँ कि स्त्री-शूद्रादिके लिये भी यही सबसे श्रेष्ठ साधना-पद्धति है ॥ ४ ॥

एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५ ॥

कमलनयन श्यामसुन्दर ! आप शङ्कर आदि जगदीश्वरोंके भी

ईश्वर हैं और मैं आपके चरणोंका प्रेमी भक्त हूँ। आप कृपा करके मुझे यह कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाली विधि बतलाइये ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! कर्मकाण्डका इतना विस्तार है कि उसकी कोई सीमा नहीं है; इसलिये मैं उसे थोड़ेमें ही पूर्वापरक्रमसे विधिपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ ६ ॥

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥ ७ ॥

मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। इन तीनोंमेंसे मेरे भक्तको जो भी अपने अनुकूल जान पड़े उसी विधिसे मेरी आराधना करनी चाहिये ॥ ७ ॥

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया[1] तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

पहले अपने अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधिसे समयपर यज्ञोपवीत-संस्कारके द्वारा संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करे, फिर श्रद्धा और भक्तिके साथ वह किस प्रकार पूजा करे, इसकी विधि तुम मुझसे सुनो ॥ ८ ॥

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये[2] वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥ ९ ॥

१. यैतन्नि०। २. सूर्येऽप्सु हृदि वा द्विजः।

भक्तिपूर्वक निष्कपट भावसे अपने पिता एवं गुरुरूप मुझ परमात्माकी पूजाकी सामग्रियोंके द्वारा मूर्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें—चाहे किसीमें भी आराधना करे ॥९॥

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥१०॥

उपासकको चाहिये कि प्रातःकाल दतुअन करके पहले शरीर-शुद्धिके लिये स्नान करे और फिर वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिट्टी और भस्म आदिका लेप करके पुनः स्नान करे ॥१०॥

संध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदे[1]नाचोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक् संकल्पः कर्मपावनीम् ॥११॥

इसके पश्चात् वेदोक्त सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद मेरी आराधनाका ही सुदृढ़ सङ्कल्प करके वैदिक और तान्त्रिक विधियोंसे कर्मबन्धनोंसे छुड़ानेवाली मेरी पूजा करे ॥११॥

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥१२॥

मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी होती है—पत्थरकी, लकड़ीकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दन आदिकी चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी ॥१२॥

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥१३॥

चल और अचल भेदसे दो प्रकारकी प्रतिमा ही मुझ भगवान्‌का

---

१. वेदमन्त्रोदितानि ।

मन्दिर है । उद्धवजी ! अचल प्रतिमाके पूजनमें प्रतिदिन आवाहन और विसर्जन नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥१४॥

चल प्रतिमाके सम्बन्धमें विकल्प है । चाहे करे और चाहे न करे । परन्तु बालुकामयी प्रतिमामें तो आवाहन और विसर्जन प्रतिदिन करना ही चाहिये । मिट्टी और चन्दनकी तथा चित्रमयी प्रतिमाओंको स्नान न करावे, केवल मार्जन कर दे; परन्तु और सबको स्नान कराना चाहिये ॥ १४ ॥

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥१५॥

प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पदार्थोंसे प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा की जाती है, परन्तु जो निष्काम भक्त है, वह अनायास प्राप्त पदार्थोंसे और भावनामात्रसे ही हृदयमें मेरी पूजा कर ले ॥ १५ ॥

स्नानालंकरणं प्रेष्ठमर्चायामेव[1] तूद्धव ।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥१६॥

उद्धवजी ! स्नान, वस्त्र, आभूषण आदि तो पाषाण अथवा धातुकी प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी हैं । बालुकामयी मूर्ति अथवा मिट्टीकी वेदीमें पूजा करनी हो, तो उसमें मन्त्रोंके द्वारा अंग और उसके प्रधान देवताओंकी यथास्थान पूजा करनी चाहिये । तथा अग्निमें पूजा करनी हो, तो घृतमिश्रित हवन-सामग्रियोंसे आहुति देनी चाहिये ॥ १६ ॥

१. मेतदुद्धव ।

सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥ १७ ॥

सूर्यको प्रतीक मानकर की जानेवाली उपासनामें मुख्यतः अर्घ्यदान एवं उपस्थान ही प्रिय हैं और जलमें तर्पण आदिसे मेरी उपासना करनी चाहिये । जब मुझे कोई भक्त हार्दिक श्रद्धासे जल भी चढ़ाता है, तब मैं उसे बड़े प्रेमसे स्वीकार करता हूँ ॥ १७ ॥

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।[1]
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥ १८ ॥

यदि कोई अभक्त मुझे बहुत-सी सामग्री निवेदन करे, तो भी मैं उससे सन्तुष्ट नहीं होता । जब मैं भक्ति-श्रद्धापूर्वक समर्पित जलसे ही प्रसन्न हो जाता हूँ, तब गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि वस्तुओंके समर्पणसे तो कहना ही क्या है ॥ १८ ॥

शुचिः सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः ।
आसीनः प्रागुदग् वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः ॥ १९ ॥

उपासक पहले पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर ले फिर इस प्रकार कुश बिछाये कि उनके अगले भाग पूर्वकी ओर रहें । तदनन्तर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके पवित्रतासे उन कुशोंके आसनपर बैठ जाय । यदि प्रतिमा अचल हो तो उसके सामने ही बैठना चाहिये । इसके बाद पूजाकार्य प्रारम्भ करे ॥ १९ ॥

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिनाऽऽमृजेत् ।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसादयेत् ॥ २० ॥

---

१. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

पहले विधिपूर्वक अङ्गन्यास और करन्यास कर ले; इसके बाद मूर्तिमें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमापरसे पूर्व समर्पित सामग्री हटाकर पोंछ दे। इसके बाद जलसे भरे हुए कलश और प्रोक्षणपात्र आदिकी पूजा गन्ध-पुष्प आदिसे करे ॥ २० ॥

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥ २१ ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि देशिकः ।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥ २२ ॥

प्रोक्षणपात्रके जलसे पूजासामग्री और अपने शरीरका प्रोक्षण कर ले। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पात्रोंमें कलशमेंसे जल भरकर रख ले और उनमें पूजा-पद्धतिके अनुसार सामग्री डाले। (पाद्यपात्रमें श्यामाक—साँवेके दाने, दूब, कमल, विष्णुक्रान्ता और चन्दन, तुलसीदल आदि; अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, अक्षत, जौ, कुश, तिल, सरसों और दूब तथा आचमनपात्रमें जायफल-लौंग आदि डाले।) इसके बाद पूजा करनेवालेको चाहिये कि तीनों पात्रोंको क्रमशः हृदयमन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अन्तमें गायत्रीमन्त्रसे तीनोंको अभिमन्त्रित करे ॥ २१-२२ ॥

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ॥ २३ ॥

इसके बाद प्राणायामके द्वारा प्राणवायु और भावनाओंद्वारा शरीरस्थ अग्निके शुद्ध हो जानेपर हृदयकमलमें परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ दीपकशिखाके समान मेरी जीवकलाका ध्यान करे। बड़े-बड़े सिद्ध

ऋषि-मुनि ॐकारके अकार, उकार, मकार, विन्दु और नाद—इन पाँच कलाओंके अन्तमें उसी जीवकलाका ध्यान करते हैं ॥ २३ ॥

तथाऽऽत्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः ।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥२४॥

वह जीवकला आत्मस्वरूपिणी है । जब उसके तेजसे सारा अन्तःकरण और शरीर भर जाय, तब मानसिक उपचारोंसे मन-ही-मन उसकी पूजा करनी चाहिये । तदनन्तर तन्मय होकर मेरा आवाहन करे और प्रतिमा आदिमें स्थापना करे । फिर मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास करके उसमें मेरी पूजा करे ॥ २४ ॥

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत् ।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसनं मम ॥२५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥२६॥

उद्धवजी ! मेरे आसनमें धर्म आदि गुणों और विमला आदि शक्तियोंकी भावना करे । अर्थात् आसनके चारों कोनोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप चार पाये हैं; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये चारों दिशाओंमें डंडे हैं; सत्त्व-रज-तम-रूप तीन पटरियोंकी बनी हुई पीठ है; उसपर विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ विराजमान हैं । उस आसनपर एक अष्टदल कमल है, उसकी कर्णिका अत्यन्त प्रकाशमान है और पीली-पीली केसरोंकी छटा निराली ही है । आसनके सम्बन्धमें ऐसी भावना करके पाद्य, आचमनीय

और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत करे। तदनन्तर भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये वैदिक और तान्त्रिक विधिसे मेरी पूजा करे॥ २५-२६॥

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान्।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत्॥ २७॥

सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे और कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्सचिह्नकी वक्षःस्थलपर यथास्थान पूजा करे॥ २७॥

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम्॥ २८॥
दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान्।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः॥ २९॥

नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्षदोंकी आठ दिशाओंमें; गरुड़की सामने; दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी चारों कोनोंमें स्थापना करके पूजन करे। बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी स्थापना करके प्रोक्षण, अर्घ्यदान आदि क्रमसे उनकी पूजा करनी चाहिये॥ २८-२९॥

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति॥ ३०॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः॥ ३१॥

प्रिय उद्धव ! यदि सामर्थ्य हो तो प्रतिदिन चन्दन, खस, कपूर, केसर और अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओंद्वारा सुवासित जलसे मुझे स्नान कराये और उस समय 'सुवर्ण घर्म' इत्यादि स्वर्ण-घर्मानुवाक, 'जितं ते पुण्डरीकाक्ष' इत्यादि महापुरुषविद्या, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि पुरुषसूक्त और 'इन्द्रं नरो नेमिधिता हवन्त' इत्यादि मन्त्रोक्त राजनादि सामगायनका पाठ भी करता रहे ॥ ३०-३१ ॥

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥ ३२ ॥

मेरा भक्त वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध और चन्दनादिसे प्रेमपूर्वक यथावत् मेरा शृङ्गार करे ॥ ३२ ॥

पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥ ३३ ॥

उपासक श्रद्धाके साथ मुझे पाद्य, आचमन, चन्दन, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप आदि सामग्रियाँ समर्पित करे ॥ ३३ ॥

गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥ ३४ ॥

यदि हो सके तो गुड़, खीर, घृत, पूड़ी, पूए, लड्डू, हलुआ, दही और दाल आदि विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य लगावे ॥ ३४ ॥

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि[१] पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥ ३५ ॥

भगवान्‌के विग्रहको दतुअन कराये, उबटन लगाये, पञ्चामृत

१. अन्नादि गीतनृत्यादि मत्पर्वणि यथार्हतः ।

आदिसे स्नान कराये, सुगन्धित पदार्थोंका लेप करे, दर्पण दिखाये, भोग लगाये और शक्ति हो तो प्रतिदिन अथवा पर्वोंके अवसरपर नाचने-गाने आदिका भी प्रबन्ध करे ॥ ३५ ॥

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम् ॥ ३६ ॥

उद्धवजी ! तदनन्तर पूजाके बाद शास्त्रोक्त विधिसे बने हुए कुण्डमें अग्निकी स्थापना करे । वह कुण्ड मेखला, गर्त और वेदीसे शोभायमान हो । उसमें हाथकी हवासे अग्नि प्रज्वलित करके उसका परिसमूहन करे, अर्थात् उसे एकत्र कर दे ॥ ३६ ॥

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्याऽऽसाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम्॥ ३७ ॥

वेदीके चारों ओर कुशकण्डिका करके अर्थात् चारों ओर बीस-बीस कुश बिछाकर मन्त्र पढ़ता हुआ उनपर जल छिड़के । इसके बाद विधिपूर्वक समिधाओंका आधानरूप अन्वाधान कर्म करके अग्निके उत्तर भागमें होमोपयोगी सामग्री रक्खे और प्रोक्षणीपात्रके जलसे प्रोक्षण करे । तदनन्तर अग्निमें मेरा इस प्रकार ध्यान करे ॥ ३७ ॥

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥ ३८ ॥

'मेरी मूर्ति तपाये हुए सोनेके समान दम-दम दमक रही है । और रोम-रोमसे शान्तिकी वर्षा हो रही है । लंबी विशाल चार भुजाएँ शोभायमान हैं । उनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म विराजमान हैं । कमलकी केसरके समान पीला-पीला वस्त्र फहरा रहा है ॥ ३८ ॥

१. प्रोक्ष्याद्भिराज्यद्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नावावहेत माम् ।

स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम्[1] ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥ ३९ ॥

सिरपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, कमरमें करधनी और बाँहोंमें बाजूबंद झिलमिला रहे हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है। गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। घुटनोंतक वनमाला लटक रही है' ॥ ३९ ॥

ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि[2]हविषाभिघृतानि च ।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं[3] हविः ॥ ४० ॥

अग्निमें मेरी इस मूर्तिका ध्यान करके पूजा करनी चाहिये। इसके बाद सूखी समिधाओंको घृतमें डुबोकर आहुति दे और आज्यभाग और आघार नामक दो-दो आहुतियोंसे और भी हवन करे। तदनन्तर घीसे भिगोकर अन्य हवन-सामग्रियोंसे आहुति दे ॥ ४० ॥

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः ।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः ॥ ४१ ॥

इसके बाद अपने इष्टमन्त्रसे अथवा 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रसे तथा पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंसे हवन करे। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि धर्मादि देवताओंके लिये भी विधिपूर्वक मन्त्रोंसे हवन करे और स्विष्टकृत् आहुति भी दे ॥ ४१ ॥

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ।
मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार अग्निमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान्की पूजा करके उन्हें नमस्कार करे और नन्द-सुनन्द आदि पार्षदोंको आठों

१. मुकुट० । २. हविष्याणि घृतानि च । ३. चाज्याप्लुतं ।

दिशाओंमें हवनकर्माङ्ग बलि दे । तदनन्तर प्रतिमाके सम्मुख बैठकर परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका स्मरण करे और भगवत्स्वरूप मूलमन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' का जप करे ॥ ४२ ॥

दत्त्वाऽऽचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् ।
मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥४३॥

इसके बाद भगवान्को आचमन करावे और उनका प्रसाद विष्वक्सेनको निवेदन करे । इसके पश्चात् अपने इष्टदेवकी सेवामें सुगन्धित ताम्बूल आदि मुखवास उपस्थित करे तथा पुष्पाञ्जलि समर्पित करे ॥ ४३ ॥

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम ।
मत्कथाः श्रावयञ्छृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥४४॥

मेरी लीलाओंको गावे, उनका वर्णन करे और मेरी ही लीलाओंका अभिनय करे । यह सब करते समय प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगे । मेरी लीला-कथाएँ स्वयं सुने और दूसरोंको सुनावे । कुछ समयतक संसार और उसके रगड़ों-झगड़ोंको भूलकर मुझमें ही तन्मय हो जाय ॥ ४४ ॥

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥४५॥

प्राचीन ऋषियोंके द्वारा अथवा प्राकृत भक्तोंके द्वारा बनाये हुए छोटे-बड़े स्तव और स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करके प्रार्थना करे—'भगवन् ! आप मुझपर प्रसन्न हों । मुझे अपने कृपाप्रसादसे सराबोर कर दें ।' तदनन्तर दण्डवत्-प्रणाम करे ॥ ४५ ॥

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥४६॥

अपना सिर मेरे चरणोंपर रख दे और अपने दोनों हाथोंसे—दायेंसे दाहिना और बायेंसे बायाँ चरण पकड़कर कहे—'भगवन् ! इस संसार-सागरमें मैं डूब रहा हूँ। मृत्युरूप मगर मेरा पीछा कर रहा है। मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो ! आप मेरी रक्षा कीजिये' ॥ ४६ ॥

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः ॥४७॥

इस प्रकार स्तुति करके मुझे समर्पण की हुई माला आदरके साथ अपने सिरपर रक्खे और उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद समझे। यदि विसर्जन करना हो तो ऐसी भावना करनी चाहिये कि प्रतिमामें-से एक दिव्य ज्योति निकली है और वह मेरी हृदयस्थ ज्योतिमें लीन हो गयी है। बस, यही विसर्जन है ॥ ४७ ॥

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥४८॥

उद्धवजी ! प्रतिमा आदिमें जब जहाँ श्रद्धा हो तब, तहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ ॥ ४८ ॥

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥४९॥

उद्धवजी ! जो मनुष्य इस प्रकर वैदिक, तान्त्रिक क्रियायोगके

द्वारा मेरी पूजा करता है, वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम् ।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान् ॥५०॥

यदि शक्ति हो, तो उपासक सुन्दर और सुदृढ़ मन्दिर बनवाये और उसमें मेरी प्रतिमा स्थापित करे । सुन्दर-सुन्दर फूलोंके बगीचे लगवा दे; नित्यकी पूजा, पर्वकी यात्रा और बड़े-बड़े उत्सवोंकी व्यवस्था कर दे ॥ ५० ॥

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् ।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥५१॥

जो मनुष्य पर्वोंके उत्सव और प्रतिदिनकी पूजा लगातार चलनेके लिये खेत, बाजार, नगर अथवा गाँव मेरे नामपर समर्पित कर देते हैं, उन्हें मेरे समान ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥५२॥

मेरी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका एकछत्र राज्य, मन्दिर-निर्माणसे त्रिलोकीका राज्य, पूजा आदिकी व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक और तीनोंके द्वारा मेरी समानता प्राप्ति होती है ॥ ५२ ॥

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन[1] विन्दति ।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥५३॥

जो निष्कामभावसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग

---

१. क्रियायोगेन ।

प्राप्त हो जाता है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ५३ ॥

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ।
वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम् ॥५४॥

जो अपनी दी हुई या दूसरोंकी दी हुई देवता और ब्राह्मणकी जीविका हरण कर लेता है, वह करोड़ों वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है ॥ ५४ ॥

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम् ॥५५॥

जो लोग ऐसे कामोंमें सहायता, प्रेरणा अथवा अनुमोदन करते हैं, वे भी मरनेके बाद प्राप्त करनेवालेके समान ही फलके भागीदार होते हैं । यदि उनका हाथ अधिक रहा तो फल भी उन्हें अधिक ही मिलता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

परमार्थ-निरूपण

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! यद्यपि व्यवहारमें पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्यके भेदसे दो प्रकारका जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थ-दृष्टिसे देखनेपर यह सब एक अधिष्ठानस्वरूप ही है; इसलिये किसीके शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उनके अनुसार कर्मोंकी न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा । सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिये ॥ १ ॥

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्याभिनिवेशतः ॥ २ ॥

जो पुरुष दूसरोंके स्वभाव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं, वे शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ-साधनसे च्युत हो जाते हैं; क्योंकि साधन तो द्वैतके अभिनिवेशका उसके प्रति सत्यत्व-बुद्धिका निषेध करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यताके भ्रमको और भी दृढ़ करती हैं ॥ २ ॥

तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः ।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान् ॥ ३ ॥

उद्धवजी ! सभी इन्द्रियाँ राजस अहङ्कारके कार्य हैं । जब वे निद्रित हो जाती हैं, तब शरीरका अभिमानी जीव चेतनाशून्य हो जाता है अर्थात् उसे बाहरी शरीरकी स्मृति नहीं रहती । उस समय यदि मन बच रहा, तब तो वह सपनेके झूठे दृश्योंमें भटकने लगता है और वह भी लीन हो गया, तब तो जीव मृत्युके समान गाढ़ निद्रा—सुषुप्तिमें लीन हो जाता है । वैसे ही जब जीव अपने

१. यामाप्नोति ।

अद्वितीय आत्मा स्वरूपको भूलकर नाना वस्तुओंका दर्शन करने लगता है, तब वह स्वप्नके समान झूठे दृश्योंमें फँस जाता है अथवा मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है ॥ ३ ॥

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियद् ।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४ ॥

उद्धवजी ! जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी, अथवा इतनी भली और बुरी है—यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता । विश्वकी सभी वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं अथवा मनसे सोची जा सकती हैं; इसलिये दृश्य एवं अनित्य होनेके कारण उनका मिथ्यात्व तो स्पष्ट ही है ॥ ४ ॥

छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥

परछाईं, प्रतिध्वनि और सीपी आदिमें चाँदी आदिके आभास यद्यपि हैं तो सर्वथा मिथ्या, परन्तु उनके द्वारा मनुष्यके हृदयमें भय, कम्प आदिका सञ्चार हो जाताहै। वैसे ही देहादि सभी वस्तुएँ हैं तो सर्वथा मिथ्या ही, परन्तु जबतक ज्ञानके द्वारा इनकी असत्यताका बोध नहीं हो जाता, इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक ये भी अज्ञानियोंको भयभीत करती रहती हैं ॥ ५ ॥

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥ ६ ॥

उद्धवजी ! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है वह आत्मा ही

जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त-कारण तो है ही, उपादान-कारण भी है। अर्थात् वही विश्व बनता है और वही बनाता भी है, वही रक्षक है और रक्षित भी वही है। सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं॥ ६॥

तस्मान्नह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भ्रांतिरात्मनि[1]।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥ ७॥

अवश्य ही व्यवहारदृष्टिसे देखनेपर आत्मा इस विश्वसे भिन्न है; परन्तु आत्मदृष्टिसे उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही नहीं है। उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका किसी भी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता और अनिर्वचनीय तो केवल आत्म-स्वरूप ही है; इसलिये आत्मामें सृष्टि-स्थिति-संहार अथवा अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीन-तीन प्रकारकी प्रतीतियाँ सर्वथा निर्मूल ही हैं। न होनेपर भी यों ही प्रतीत हो रही हैं। यह सत्त्व, रज और तमके कारण प्रतीत होनेवाली द्रष्टा-दर्शन-दृश्य आदिकी त्रिविधता मायाका खेल है॥ ७॥

एतद् विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्॥ ८॥

उद्धवजी! तुमसे मैंने ज्ञान और विज्ञानकी उत्तम स्थितिका वर्णन किया है। जो पुरुष मेरे इन वचनोंका रहस्य जान लेता है,

१. मतिरा०।

वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा। वह जगत्‌में सूर्यके समान समभावसे विचरता रहता है ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निस्संगो विचरेदिह ॥ ९ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और आत्मानुभूति आदि सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि यह जगत् उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण अनित्य एवं असत्य है। यह बात जानकर जगत्‌में असङ्गभावसे विचरना चाहिये ॥ ९ ॥

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ १० ॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! आत्मा है द्रष्टा और देह है दृश्य। आत्मा स्वयंप्रकाश है और देह है जड। ऐसी स्थितिमें जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीरको हो सकता है और न आत्माको। परन्तु इसका होना भी उपलब्ध होता है। तब यह होता किसे है? ॥ १० ॥

आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः[1] कस्येह संसृतिः ॥ ११ ॥

आत्मा तो अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणोंसे रहित, शुद्ध, स्वयंप्रकाश और सभी प्रकारके आवरणोंसे रहित है; तथा शरीर विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य और आवृत है। आत्मा अग्निके

१. अग्निवद्दारुवद्देहः कस्य हा कस्य संसृतिः।

समान प्रकाशमान है, तो शरीर काठकी तरह अचेतन। फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार है किसे? ॥ ११ ॥

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः संनिकर्षणम्।
संसार[1]ः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥१२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—वस्तुतः प्रिय उद्धव! संसारका अस्तित्व नहीं है तथापि जबतक देह, इन्द्रिय और प्राणोंके साथ आत्माकी सम्बन्ध-भ्रान्ति है, तबतक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सा स्फुरित होता है ॥ १२ ॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो वि[2]षयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥१३॥

जैसे स्वप्नमें अनेकों विपत्तियाँ आती हैं, पर वास्तवमें वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटनेतक उसका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही संसारके न होनेपर भी जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्यु-रूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती ॥ १३ ॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥१४॥

जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है, तब नींद टूटनेके पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है; परन्तु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होनेवाले मोह आदि विकार ॥ १४ ॥

---

१. संसारफलवान्। २. विषयांस्तस्य।

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥ १५ ॥

उद्धवजी ! अहंकार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्युका शिकार बनता है। आत्मासे तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ १५ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥ १६ ॥

उद्धवजी ! देह, इन्द्रिय, प्राण और मनमें स्थित आत्मा ही जब उनका अभिमान कर बैठता है—उन्हें अपना स्वरूप मान लेता है—तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है। उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माकी मूर्ति है—गुण और कर्मोंका बना हुआ लिङ्ग-शरीर। उसे ही कहीं सूत्रात्मा कहा जाता है और कहीं महत्तत्त्व। उसके और भी बहुतसे-नाम हैं। वही कालरूप परमेश्वरके अधीन होकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है ॥ १६ ॥

अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥ १७ ॥

वास्तवमें मन, वाणी, प्राण और शरीर अहङ्कारके ही कार्य

१. मृत्युर्न वात्मनः ।

हैं। यह है तो निर्मूल, परन्तु देवता, मनुष्य आदि अनेक रूपोंमें इसीकी प्रतीति होती है। मननशील पुरुष उपासनाकी शानपर चढ़ा-कर ज्ञानकी तलवारको अत्यन्त तीखी बना लेता है और उसके द्वारा देहाभिमानका—अहंकारका मूलोच्छेद करके पृथ्वीमें निर्द्वन्द्व होकर विचरता है। फिर उसमें किसी प्रकारकी आशा-तृष्णा नहीं रहती॥१७॥

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम्।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥१८॥

आत्मा और अनात्माके स्वरूपको पृथक्-पृथक् भलीभाँति समझ लेना ही ज्ञान है, क्योंकि विवेक होते ही द्वैतका अस्तित्व मिट जाता है। उसका साधन है तपस्याके द्वारा हृदयको शुद्ध करके वेदादि शास्त्रोंका श्रवण करना। इनके अतिरिक्त श्रवणानुकूल युक्तियाँ, महा-पुरुषोंके उपदेश और इन दोनोंसे अविरुद्ध स्वानुभूति भी प्रमाण हैं। सबका सार यही निकलता है कि इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही अद्वितीय, उपाधिशून्य परमात्मा बीचमें भी है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है॥ १८॥

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥१९॥

उद्धवजी! सोनेसे कंगन, कुण्डल आदि बहुत-से आभूषण बनते हैं; परन्तु जब वे गहने नहीं बने थे, तब भी सोना था और जब नहीं रहेंगे, तब भी सोना रहेगा। इसलिये जब बीचमें उसके कंगन-कुण्डल आदि अनेकों नाम रखकर व्यवहार करते हैं, तब भी वह सोना ही है। ठीक ऐसे ही जगत्‌का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। वास्तवमें मैं ही सत्य तत्त्व हूँ॥ १९॥

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम्॥ २०॥

भाई उद्धव! मनकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन अवस्थाओंके कारण तीन ही गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। और जगत्‌के तीन भेद हैं—अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथिव्यादि) और अधिदैव (कर्ता)। ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होती हैं और समाधि आदिमें यह त्रिविधता न रहनेपर भी जिसकी सत्ता बनी रहती है, वह तुरीयतत्त्व—इन तीनोंसे परे और इनमें अनुगत चौथा ब्रह्मतत्त्व ही सत्य है॥ २०॥

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥ २१॥

जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ-सत्ता है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ २१ ॥

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥२२॥

यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दीख रही है। यह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिये इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि जितने चित्र-विचित्र नाम-रूप हैं उनके रूपमें ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है ॥ २२ ॥

एवं[1] स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन।
छित्त्वाऽऽत्मसंदेहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥२३॥

ब्रह्मविचारके साधन हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति। उनमें सहायक हैं—आत्मज्ञानी गुरुदेव! इनके द्वारा विचार करके स्पष्टरूपसे देहादि अनात्म पदार्थोंका निषेध कर देना

१. एव।

चाहिये। इस प्रकार निषेधके द्वारा आत्मविषयक सन्देहोंको छिन्न-भिन्न करके अपने आनन्दस्वरूप आत्मामें ही मग्न हो जाय और सब प्रकारकी विषयवासनाओंसे रहित हो जाय ॥ २३ ॥

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुर्जलं हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥२४॥

निषेध करनेकी प्रक्रिया यह है कि पृथ्वीका विकार होनेके कारण शरीर आत्मा नहीं है। इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ-देवता, प्राण, वायु, जल, अग्नि एवं मन भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि इनका धारण-पोषण शरीरके समान ही अन्नके द्वारा होता है। बुद्धि, चित्त, अहंकार, आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं है, क्योंकि ये सब-के-सब दृश्य एवं जड हैं ॥ २४ ॥

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः[1] ।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥२५॥

उद्धवजी ! जिसे मेरे स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, उसकी वृत्तियाँ और इन्द्रियाँ यदि समाहित रहती हैं तो उसे उनसे लाभ क्या है ? और यदि वे विक्षिप्त रहती हैं, तो उनसे हानि भी

१. भवेन्न ह्यविवि० ।

क्या है ? क्योंकि अन्तःकरण और बाह्यकरण—सभी गुणमय हैं और आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। भला, आकाशमें बादलोंके छा जाने अथवा तितर-बितर हो जानेसे सूर्यका क्या बनता-बिगड़ता है॥ २५॥

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम्॥२६॥

जैसे वायु आकाशको सुखा नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, धूल-धुएँ मटमैला नहीं कर सकते और ऋतुओंके गुण गरमी-सर्दी आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते—क्योंकि ये सब आने-जानेवाले क्षणिक भाव हैं और आकाश इन सबका एकरस अधिष्ठान है—वैसे ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियाँ तथा कर्म अविनाशी आत्माका स्पर्श नहीं कर पाते; वह तो इनसे सर्वथा परे है। इनके द्वारा तो केवल वही संसारमें भटकता है, जो इनमें अहङ्कार कर बैठता है॥ २६॥

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत्।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनःकषायः॥२७॥

उद्धवजी ! ऐसा होनेपर भी तबतक इन मायानिर्मित गुणों और उनके कार्योंका सङ्ग सर्वथा त्याग देना चाहिये, जबतक मेरे

सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा मनका रजोगुणरूप मल एकदम निकल न जाय ॥ २७ ॥

यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥२८॥

उद्धवजी ! जैसे भलीभाँति चिकित्सा न करनेपर रोगका समूल नाश नहीं होता, वह बार-बार उभरकर मनुष्यको सताया करता है; वैसे ही जिस मनकी वासनाएँ और कर्मोंके संस्कार मिट नहीं गये हैं, जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त है, वह बार-बार अधूरे योगीको वेधता रहता है और उसे कई बार योगभ्रष्ट भी कर देता है ॥ २८ ॥

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥२९॥

देवताओंके द्वारा प्रेरित शिष्य-पुत्र आदिके द्वारा किये हुए विघ्नोंसे यदि कदाचित् अधूरा योगी मार्गच्युत हो जाय तो भी वह अपने पूर्वाभ्यासके कारण पुनः योगाभ्यासमें ही लग जाता है। कर्म आदिमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती ॥ २९ ॥

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात् ।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥३०॥

उद्धवजी ! जीव संस्कार आदिसे प्रेरित होकर जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त कर्ममें ही लगा रहता है और उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंको प्राप्त होता रहता है। परन्तु जो तत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है वह प्रकृतिमें स्थित रहने-पर भी, संस्कारानुसार कर्म होते रहनेपर भी उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंसे मुक्त नहीं होता; क्योंकि आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारसे उसकी संसार-सम्बन्धी सभी आशा-तृष्णाएँ पहले ही नष्ट हो चुकी होती हैं ॥३०॥

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥ ३१ ॥

जो अपने स्वरूपमें स्थित हो गया है, उसे इस बातका भी पता नहीं रहता कि शरीर खड़ा है या बैठा, चल रहा है या सो रहा है, मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अथवा और कोई स्वाभाविक कर्म कर रहा है; क्योंकि उसकी वृत्ति तो आत्मस्वरूपमें स्थित—ब्रह्माकार रहती है ॥ ३१ ॥

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन निरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥ ३२ ॥

१. इति ।

यदि ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियोंके विविध बाह्य विषय, जो कि असत् हैं, आते भी हैं तो वह उन्हें अपने आत्मासे भिन्न नहीं मानता, क्योंकि वे युक्तियों, प्रमाणों और स्वानुभूतिसे सिद्ध नहीं होते। जैसे नींद टूट जानेपर स्वप्नमें देखे हुए और जागनेपर तिरोहित हुए पदार्थोंको कोई सत्य नहीं मानता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपनेसे भिन्न प्रतीयमान पदार्थोंको सत्य नहीं मानते ॥ ३२ ॥

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥ ३३ ॥

उद्धवजी! (इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानीने आत्माका त्याग कर दिया है और ज्ञानी उसको ग्रहण करता है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि) अनेकों प्रकारके गुण और कर्मोंसे युक्त देह-इन्द्रिय आदि पदार्थ पहले अज्ञानके कारण आत्मासे अभिन्न मान लिये गये थे, उनका विवेक नहीं था। अब आत्मदृष्टि होनेपर अज्ञान और उसके कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति ही अभीष्ट है। वृत्तियोंके द्वारा न तो आत्माका ग्रहण हो सकता है और न त्याग ॥ ३३ ॥

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न[1] तु सद् विधत्ते[2]।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥ ३४ ॥

---

१. विहन्यान्न। २. संविधत्ते।

जैसे सूर्य उदय होकर मनुष्योंके नेत्रोंके सामनेसे अन्धकारका परदा हटा देते हैं, किसी नयी वस्तुका निर्माण नहीं करते, वैसे ही मेरे स्वरूपका दृढ अपरोक्षज्ञान पुरुषके बुद्धिगत अज्ञानका आवरण नष्ट कर देता है। वह इदंरूपसे किसी वस्तुका अनुभव नहीं कराता ॥ ३४ ॥

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे[1]
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥ ३५ ॥

उद्धवजी! आत्मा नित्य अपरोक्ष है, उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती। वह स्वयंप्रकाश है। उसमें अज्ञान आदि किसी प्रकारके विकार नहीं हैं। वह जन्मरहित है अर्थात् कभी किसी प्रकार भी वृत्तिमें आरूढ नहीं होता। इसलिये अप्रमेय है। ज्ञान आदिके द्वारा उसका संस्कार भी नहीं किया जा सकता। आत्मामें देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद न होनेके कारण अस्तित्व, वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास और विनाश उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। सबकी और सब प्रकारकी अनुभूतियाँ आत्मस्वरूप ही हैं। जब मन और वाणी आत्माको अपना अविषय समझकर निवृत्त हो जाते हैं, तब वही सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेदसे शून्य एक अद्वितीय रह जाता है। व्यवहार-दृष्टिसे उसके स्वरूपका वाणी और प्राण आदिके प्रवर्तकके रूपमें निरूपण किया जाता है ॥ ३५ ॥

एतावानात्मसंमोहो यद् विकल्पस्तु केवले ।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥ ३६ ॥

---

१. विरामः ।

उद्धवजी ! अद्वितीय आत्मतत्त्वमें अर्थहीन नामोंद्वारा विविधता मान लेना ही मनका भ्रम है, अज्ञान है । सचमुच यह बहुत बड़ा मोह है, क्योंकि अपने आत्माके अतिरिक्त उस भ्रमका भी और कोई अधिष्ठान नहीं है । अधिष्ठान-सत्तामें अध्यस्तकी सत्ता है ही नहीं । इसलिये सब कुछ आत्मा ही है ॥ ३६ ॥

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥ ३७ ॥

बहुत-से पण्डिताभिमानी लोग ऐसा कहते हैं कि यह पाञ्चभौतिक द्वैत विभिन्न नामों और रूपोंके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसलिये सत्य है । परन्तु यह तो अर्थहीन वाणीका आडम्बरमात्र है; क्योंकि तत्त्वतः तो इन्द्रियोंकी पृथक् सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, फिर वे किसीको प्रमाणित कैसे करेंगी ? ॥ ३७ ॥

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥ ३८ ॥

उद्धवजी ! यदि योगसाधना पूर्ण होनेके पहले ही किसी साधकका शरीर रोगादि उपद्रवोंसे पीडित हो, तो उसे इन उपायोंका आश्रय लेना चाहिये ॥ ३८ ॥

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः[1] ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥ ३९ ॥

गरमी-ठंडक आदिको चन्द्रमा-सूर्य आदिकी धारणाके द्वारा, वात आदि रोगोंको वायुधारणायुक्त आसनोंके द्वारा और ग्रह-सर्पादिकृत विघ्नोंको तपस्या, मन्त्र एवं ओषधिके द्वारा नष्ट कर डालना चाहिये ॥ ३९ ॥

---

१. धारणादिभिः ।

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥४०॥

काम-क्रोध आदि विघ्नोंको मेरे चिन्तन और नाम-संकीर्तन आदिके द्वारा नष्ट करना चाहिये। तथा पतनकी ओर ले जानेवाले दम्भ-मद आदि विघ्नोंको धीरे-धीरे महापुरुषोंकी सेवाके द्वारा दूर कर देना चाहिये ॥ ४० ॥

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥

कोई-कोई मनस्वी योगी विविध उपायोंके द्वारा इस शरीरको सुदृढ़ और युवावस्थामें स्थिर करके फिर अणिमा आदि सिद्धियोंके लिये योगसाधन करते हैं, परन्तु बुद्धिमान् पुरुष ऐसे विचारका समर्थन नहीं करते, क्योंकि यह तो एक व्यर्थ प्रयास है। वृक्षमें लगे हुए फलके समान इस शरीरका नाश तो अवश्यम्भावी है ॥ ४१-४२ ॥

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥

यदि कदाचित् बहुत दिनोंतक निरन्तर और आदरपूर्वक योग-साधना करते रहनेपर शरीर सुदृढ़ भी हो जाय, तब भी बुद्धिमान् पुरुषको अपनी साधना छोड़कर उतनेमें ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। उसे तो सर्वदा मेरी प्राप्तिके लिये ही संलग्न रहना चाहिये ॥ ४३ ॥

१. दूरतः ।

योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः ।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥४४॥

जो साधक मेरा आश्रय लेकर मेरे द्वारा कही हुई योगसाधनामें संलग्न रहता है, उसे कोई भी विघ्न-बाधा डिगा नहीं सकती। उसकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्दकी अनुभूतिमें मग्न हो जाता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे-ऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

भागवत धर्मोंका निरूपण और उद्धवजीका बदरिकाश्रमगमन

उद्धव उवाच

सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः ।
यथाञ्जसा पुमान् सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥ १ ॥

उद्धवजीने कहा—अच्युत ! जो अपना मन वशमें नहीं कर सका है, उसके लिये आपकी बतलायी हुई इस योगसाधनाको तो मैं बहुत ही कठिन समझता हूँ। अतः अब आप कोई ऐसा सरल और सुगम साधन बतलाइये, जिससे मनुष्य अनायास ही परमपद प्राप्त कर सके ॥ १ ॥

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः ।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २ ॥

---

१. अथा० ।

कमलनयन ! आप जानते ही हैं कि अधिकांश योगी जब अपने मनको एकाग्र करने लगते हैं, तब वे बार-बार चेष्टा करनेपर भी सफल न होनेके कारण हार मान लेते हैं और उसे वशमें न कर पानेके कारण दुखी हो जाते हैं ॥ २ ॥

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन ।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥ ३ ॥

पद्मलोचन ! आप विश्वेश्वर हैं । आपके ही द्वारा सारे संसार-का नियमन होता है । इसीसे सारासार-विचारमें चतुर मनुष्य आपके आनन्दवर्षी चरणकमलोंकी शरण लेते हैं और अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । आपकी माया उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती; क्योंकि उन्हें योगसाधन और कर्मानुष्ठानका अभिमान नहीं होता । परन्तु जो आपके चरणोंका आश्रय नहीं लेते, वे योगी और कर्मी अपने साधनके घमंडसे फूल जाते हैं; अवश्य ही आपकी मायाने उनकी मति हर ली है ॥ ३ ॥

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम् ।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४ ॥

प्रभो ! आप सबके हितैषी सुहृद् हैं । आप अपने अनन्य शरणागत बलि आदि सेवकोंके अधीन हो जायँ, यह आपके लिये

कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आपने रामावतार ग्रहण करके प्रेमवश वानरोंसे भी मित्रताका निर्वाह किया। यद्यपि ब्रह्मा आदि लोकेश्वरगण भी अपने दिव्य किरीटोंको आपके चरणकमल रखनेकी चौकीपर रगड़ते रहते हैं ॥ ४ ॥

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद् विसृजेत को नु ।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥ ५ ॥

प्रभो ! आप सबके प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। आप अपने अनन्य शरणागतोंको सब कुछ दे देते हैं। आपने बलि-प्रह्लाद आदि अपने भक्तोंको जो कुछ दिया है, उसे जानकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो आपको छोड़ देगा ? यह बात किसी प्रकार बुद्धिमें ही नहीं आती कि भला, कोई विचारवान् विस्मृतिके गर्तमें डालनेवाले तुच्छ विषयोंमें ही फँसा रखनेवाले भोगोंको क्यों चाहेगा ? हमलोग आपके चरणकमलोंकी रजके उपासक हैं। हमारे लिये दुर्लभ ही क्या है ? ॥ ५ ॥

नैवोपयन्त्यपचितिं[1] कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥ ६ ॥

भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी-

१. न्त्यविरतिं ।

रूपसे और बाहर गुरुरूपसे स्थित होकर उनके सारे पाप-ताप मिटा देते हैं और अपने वास्तविक स्वरूपको उनके प्रति प्रकट कर देते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी ब्रह्माजीके समान लंबी आयु पाकर भी आपके उपकारोंका बदला नहीं चुका सकते। इसीसे वे आपके उपकारोंका स्मरण करके क्षण-क्षण अधिकाधिक आनन्दका अनुभव करते रहते हैं ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। वे ही सत्त्व-रज आदि गुणोंके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रका रूप धारण करके जगत्की उत्पत्ति-स्थिति आदिके खेल खेला करते हैं। जब उद्धवजीने अनुरागभरे चित्तसे उनसे यह प्रश्न किया, तब उन्होंने मन्द-मन्द मुसकराकर बड़े प्रेमसे कहना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्[1] ।
याञ्छ्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—प्रिय उद्धव ! अब मैं तुम्हें अपने उन

१. महाफलान् ।

मङ्गलमय भागवतधर्मोंका उपदेश करता हूँ, जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करके मनुष्य संसाररूप दुर्जय मृत्युको अनायास ही जीत लेता है ॥ ८॥

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥ ९ ॥

उद्धवजी ! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये । कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जायँगे । उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्मोंमें रम जायँगे ॥ ९ ॥

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥ १० ॥

मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानोंमें निवास करते हों, उन्हींमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमें जो मेरे अनन्य भक्त हों, उनके आचरणोंका अनुसरण करे ॥ १० ॥

पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद् गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥ ११ ॥

पर्वके अवसरोंपर सबके साथ मिलकर अथवा अकेला ही नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करे ॥ ११ ॥

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥ १२ ॥

शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर

१. नृत्यगीताद्यैर्म० । २. चात्मस्थम् ।

परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियों और अपने हृदयमें स्थित देखे ॥ १२ ॥

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥१३॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥१४॥

निर्मलबुद्धि उद्धवजी ! जो साधक केवल इस ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरा दर्शन करता है और उन्हें मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समानदृष्टि रखता है, उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥१५॥

जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्द्धा (होड़), ईर्ष्या, तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं ॥ १५ ॥

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥१६॥

अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे; 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको और लोक-लज्जाको छोड़ दे और कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग-दण्डवत् प्रणाम करे ॥ १६ ॥

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥१७॥

जबतक समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना—भगवद्-भावना न होने लगे, तबतक इस प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सभी संकल्पों और कर्मोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे ॥ १७ ॥

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥१८॥

उद्धवजी ! जब इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि—ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास किया जाता है, तब थोड़े ही दिनोंमें उसे ज्ञान होकर सब कुछ ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है । ऐसी दृष्टि हो जानेपर सारे संशय-सन्देह अपने आप निवृत्त हो जाते हैं और वह सब कहीं मेरा साक्षात्कार करके संसारदृष्टिसे उपराम हो जाता है ॥ १८ ॥

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥१९॥

मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय ॥ १९ ॥

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ॥२०॥

उद्धवजी ! यही मेरा अपना भागवतधर्म है; इसको एक बार आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें

---

१. कर्मभिः ।

रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चय किया है ॥ २० ॥

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम ॥ २१ ॥

भागवतधर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि पड़नी तो दूर रही—यदि इस धर्मका साधक भय-शोक आदिके अवसरपर होनेवाली भावना और रोने-पीटने, भागने-जैसा निरर्थक कर्म भी निष्कामभावसे मुझे समर्पित कर दे तो वे भी मेरी प्रसन्नताके कारण धर्म बन जाते हैं ॥ २१ ॥

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्[1] ॥ २२ ॥

विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें ॥ २२ ॥

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः ।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥ २३ ॥

उद्धवजी ! यह सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका रहस्य मैंने संक्षेप और विस्तारसे तुम्हें सुना दिया । इस रहस्यको समझना मनुष्योंकी तो कौन कहे, देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ २३ ॥

अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।
एतद् विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥ २४ ॥

१. मर्त्यो वाप्नोति ।

मैंने जिस सुस्पष्ट और युक्तियुक्त ज्ञानका वर्णन बार-बार किया है, उसके मर्मको जो समझ लेता है, उसके हृदयकी संशय-ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाता है ॥ २४ ॥

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् ।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २५ ॥

मैंने तुम्हारे प्रश्नका भलीभाँति खुलासा कर दिया; जो पुरुष हमारे प्रश्नोत्तरको विचारपूर्वक धारण करेगा, वह वेदोंके भी परम रहस्य सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेगा ॥ २५ ॥

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात् सुपुष्कलम् ।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥ २६ ॥

जो पुरुष मेरे भक्तोंको इसे भलीभाँति स्पष्ट करके समझायेगा, उस ज्ञानदाताको प्रसन्न मनसे अपना स्वरूपतक दे डालूँगा, उसे आत्मज्ञान करा दूँगा ॥ २६ ॥

य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुचि ।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥ २७ ॥

उद्धवजी ! यह तुम्हारा और मेरा संवाद स्वयं तो परम पवित्र है ही, दूसरोंको भी पवित्र करनेवाला है । जो प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और दूसरोंको सुनायेगा, वह इस ज्ञानदीपके द्वारा दूसरोंको मेरा दर्शन करानेके कारण पवित्र हो जायगा ॥ २७ ॥

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः ।
मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते ॥ २८ ॥

जो कोई एकाग्र चित्तसे इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा, उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होगी और वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ २८ ॥

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्।[1]
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥ २९ ॥

प्रिय सखे ! तुमने भलीभाँति ब्रह्मका स्वरूप समझ लिया न ? और तुम्हारे चित्तका मोह एवं शोक तो दूर हो गया न ? ॥ २९ ॥

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥ ३० ॥

तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, शठ, अश्रद्धालु, भक्तिहीन और उद्धत पुरुषको कभी मत देना ॥ ३० ॥

एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥ ३१ ॥

जो इन दोषोंसे रहित हो, ब्राह्मणभक्त हो, प्रेमी हो, साधु-स्वभाव हो और जिसका चरित्र पवित्र हो, उसको यह प्रसङ्ग सुनाना चाहिये। यदि शूद्र और स्त्री भी मेरे प्रति प्रेम-भक्ति रखते हों, तो उन्हें भी इसका उपदेश करना चाहिये ॥ ३१ ॥

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥ ३२ ॥

जैसे दिव्य अमृतपान कर लेनेपर कुछ भी पीना शेष नहीं रहता, वैसे ही यह जान लेनेपर जिज्ञासुके लिये और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता ॥ ३२ ॥

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥ ३३ ॥

---

१. समुपधारितम्।

प्यारे उद्धव ! मनुष्योंको ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य और राजदण्डादिसे क्रमशः मोक्ष, धर्म, काम और अर्थरूप फल प्राप्त होते हैं; परन्तु तुम्हारे-जैसे अनन्य भक्तोंके लिये वह चारों प्रकारका फल केवल मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥ ३४ ॥

जिस समय मनुष्य समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसे उसके जीवत्वसे छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किंचिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥ ३५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब उद्धवजी योगमार्गका पूरा-पूरा उपदेश प्राप्त कर चुके थे । भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये । प्रेमकी बाढ़से गला रुँध गया, चुप-चाप हाथ जोड़े रह गये और वाणीसे कुछ बोला न गया ॥ ३५ ॥

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन् बहु मन्यमानः ।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥३६॥

उनका चित्त प्रेमावेशसे विह्वल हो रहा था, उन्होंने धैर्यपूर्वक उसे रोका और अपनेको अत्यन्त सौभाग्यशाली अनुभव करते हुए सिरसे यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको स्पर्श किया तथा हाथ जोड़कर उनसे यह प्रार्थना की ॥ ३६ ॥

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो[1]
य आश्रितो मे तव संनिधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य[2] ॥३७॥

उद्धवजीने कहा—प्रभो ! आप माया और ब्रह्मा आदिके भी मूल कारण हैं। मैं मोहके महान् अन्धकारमें भटक रहा था। आपके सत्सङ्गसे वह सदाके लिये भाग गया। भला, जो अग्निके पास पहुँच गया उसके सामने क्या शीत, अन्धकार और उसके कारण होनेवाला भय ठहर सकते हैं? ॥ ३७ ॥

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यत् समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥३८॥

---

१. मोहमयोऽन्धकारः । २. न्त्यजस्रम् ।

भगवन् ! आपकी मोहिनी मायाने मेरा ज्ञानदीपक छीन लिया था, परन्तु आपने कृपा करके वह फिर अपने सेवकको लौटा दिया। आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रहकी वर्षा की है। ऐसा कौन होगा, जो आपके इस कृपा-प्रसादका अनुभव करके भी आपके चरणकमलोंकी शरण छोड़ दे और किसी दूसरेका सहारा ले ? ॥ ३८ ॥

वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥३९॥

आपने अपनी मायासे सृष्टिवृद्धिके लिये दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वतवंशी यादवोंके साथ मुझे सुदृढ़ स्नेहपाशसे बाँध दिया था। आज आपने आत्मबोधकी तीखी तलवारसे उस बन्धनको अनायास ही काट डाला ॥ ३९ ॥

नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥४०॥

महायोगेश्वर ! मेरा आपको नमस्कार है। अब आप कृपा करके मुझ शरणागतको ऐसी आज्ञा दीजिये, जिससे आपके चरणकमलोंमें मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम् ।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः ॥४१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! अब तुम मेरी आज्ञासे

बदरीवनमें चले जाओ। वह मेरा ही आश्रम है। वहाँ मेरे चरणकमलोंके धोवन गङ्गाजलका स्नान-पानके द्वारा सेवन करके तुम पवित्र हो जाओगे॥ ४१॥

ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः॥४२॥

अलकनन्दाके दर्शनमात्रसे तुम्हारे सारे पाप-ताप नष्ट हो जायँगे। प्रिय उद्धव! तुम वहाँ वृक्षोंकी छाल पहनना, वनके कन्द-मूल-फल खाना और किसी भोगकी अपेक्षा न रखकर निःस्पृह-वृत्तिसे अपने आपमें मस्त रहना॥ ४२॥

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥४३॥

सर्दी-गरमी, सुख-दुःख—जो कुछ आ पड़े, उसे सम रहकर सहना। स्वभाव सौम्य रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना। चित्त शान्त रहे। बुद्धि समाहित रहे और तुम स्वयं मेरे स्वरूपके ज्ञान और अनुभवमें डूबे रहना॥ ४३॥

मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन्।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम्॥४४॥

मैंने तुम्हें जो कुछ शिक्षा दी है, उसका एकान्तमें विचारपूर्वक अनुभव करते रहना। अपनी वाणी और चित्त मुझमें ही लगाये रहना और मेरे बतलाये हुए भागवतधर्ममें प्रेमसे रम जाना। अन्तमें तुम त्रिगुण और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली गतियोंको पार करके उनसे परे मेरे परमार्थस्वरूपमें मिल जाओगे॥ ४४॥

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः ।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान संसारके भेदभ्रमको छिन्न-भिन्न कर देता है। जब उन्होंने स्वयं उद्धवजीको ऐसा उपदेश किया तो उन्होंने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणोंपर सिर रख दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उद्धवजी संयोग-वियोगसे होनेवाले सुख-दुःखके जोड़ेसे परे थे, क्योंकि वे भगवान्के निर्द्वन्द्व चरणोंकी शरण ले चुके थे; फिर भी वहाँसे चलते समय उनका चित्त प्रेमावेशसे भर गया। उन्होंने अपने नेत्रोंकी झरती हुई अश्रुधारासे भगवान्के चरणकमलोंको भिगो दिया ॥ ४५ ॥

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥४६॥

परीक्षित् ! भगवान्के प्रति प्रेम करके उसका त्याग करना सम्भव नहीं है। उन्हींके वियोगकी कल्पनासे उद्धवजी कातर हो गये, उनका त्याग करनेमें समर्थ न हुए। बार-बार विह्वल होकर मूर्छित होने लगे। कुछ समयके बाद उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके

चरणोंकी पादुकाएँ अपने सिरपर रख लीं और बार-बार भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ४६ ॥

ततस्तमन्तर्हृदि संनिवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद् गतिम्॥४७॥

भगवान्‌के परमप्रेमी भक्त उद्धवजी हृदयमें उनकी दिव्य छवि धारण किये बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ उन्होंने तपोमय जीवन व्यतीत करके जगत्‌के एकमात्र हितैषी भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशानुसार उनकी स्वरूपभूत परमगति प्राप्त की ॥ ४७ ॥

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यते॥४८॥

भगवान् शङ्कर आदि योगेश्वर भी सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवा किया करते हैं। उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे अपने परमप्रेमी भक्त उद्धवके लिये इस ज्ञानामृतका वितरण किया। यह ज्ञानामृत आनन्दमहासागरका सार है। जो श्रद्धाके साथ इसका सेवन करता है, वह तो मुक्त हो ही जाता है, उसके सङ्गसे सारा जगत् मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम्।

---

१. तमाद्यं हृदि।

अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥४९॥

परीक्षित् ! जैसे भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे उनका सार-सार मधु संग्रह कर लेता है, वैसे ही स्वयं वेदोंको प्रकाशित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंको संसारसे मुक्त करनेके लिये यह ज्ञान और विज्ञान-का सार निकाला है। उन्होंने जरा-रोगादि भयकी निवृत्तिके लिये क्षीरसमुद्रसे अमृत भी निकाला था तथा इन्हें क्रमशः अपने निवृत्ति-मार्गी और प्रवृत्तिमार्गी भक्तोंको पिलाया। वे ही पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत्के मूल कारण हैं। मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

यदुकुलका संहार

राजोवाच

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम्।
द्वारवत्यां किमकरोद् भगवान् भूतभावनः॥ १॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! जब महाभागवत उद्धवजी बदरीवनको चले गये, तब भूतभावन भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें क्या लीला रची ?॥ १॥

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥ २ ॥

प्रभो ! यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलके ब्रह्मशापग्रस्त होनेपर सबके नेत्रादि इन्द्रियोंके परम प्रिय अपने दिव्य श्रीविग्रहकी लीलाका संवरण कैसे किया ? ॥ २ ॥

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम् ।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥ ३ ॥

भगवन् ! जब स्त्रियोंके नेत्र उनके श्रीविग्रहमें लग जाते थे, तब वे उन्हें वहाँसे हटानेमें असमर्थ हो जाती थीं । जब संत पुरुष उनकी रूपमाधुरीका वर्णन सुनते हैं, तब वह श्रीविग्रह कानोंके रास्ते प्रवेश करके उनके चित्तमें गड़-सा जाता है, वहाँसे हटना नहीं जानता । उसकी शोभा कवियोंको काव्यरचनामें अनुरागका रंग भर देती है और उनका सम्मान बढ़ा देती है, इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है । महाभारत-युद्धके समय जब वे हमारे दादा अर्जुनके रथपर बैठे हुए थे, उस समय जिन योद्धाओंने उसे देखते-देखते शरीर-त्याग किया; उन्हें सारूप्य-मुक्ति मिल गयी । उन्होंने अपना ऐसा अद्भुत श्रीविग्रह किस प्रकार अन्तर्धान किया ? ॥ ३ ॥

ऋषिरुवाच

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान् ।
दृष्ट्वाऽऽसीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥ ४ ॥

---

१. कीर्त्यमानां ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें बड़े-बड़े उत्पात—अशकुन हो रहे हैं, तब उन्होंने सुधर्मा सभामें उपस्थित सभी यदुवंशियोंसे यह बात कही—॥ ४ ॥

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः ।
मुहूर्त्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

'श्रेष्ठ यदुवंशियो ! यह देखो, द्वारकामें बड़े-बड़े भयङ्कर उत्पात होने लगे हैं । ये साक्षात् यमराजकी ध्वजाके समान हमारे महान् अनिष्टके सूचक हैं । अब हमें यहाँ घड़ी-दो-घड़ी भी नहीं ठहरना चाहिये ॥ ५ ॥

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः ।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती ॥ ६ ॥

स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े यहाँसे शंखोद्धार क्षेत्रमें चले जायँ और हमलोग प्रभासक्षेत्रमें चलें । आप सब जानते हैं कि वहाँ सरस्वती पश्चिमकी ओर बहकर समुद्रमें जा मिली हैं ॥ ६ ॥

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः ।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७ ॥

वहाँ हम स्नान करके पवित्र होंगे, उपवास करेंगे और एकाग्रचित्तसे स्नान एवं चन्दन आदि सामग्रियोंसे देवताओंकी पूजा करेंगे ॥ ७ ॥

ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृतस्वस्त्ययना वयम् ।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८ ॥

वहाँ स्वस्तिवाचनके बाद हमलोग गौ, भूमि, सोना, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ और घर आदिके द्वारा महात्मा ब्राह्मणोंका सत्कार करेंगे ॥ ८ ॥

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम् ।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥

यह विधि सब प्रकारके अमङ्गलोंका नाश करनेवाली और परम मङ्गलकी जननी है । श्रेष्ठ यदुवंशियो ! देवता, ब्राह्मण और गौओंकी पूजा ही प्राणियोंके जन्मका परम लाभ है' ॥ ९ ॥

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः ।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥१०॥

परीक्षित् ! सभी वृद्ध यदुवंशियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर 'तथास्तु' कहकर उसका अनुमोदन किया और तुरंत नौकाओंसे समुद्र पार करके रथोंद्वारा प्रभासक्षेत्रकी यात्रा की ॥१०॥

तस्मिन् भगवताऽऽदिष्टं यदुदेवेन यादवाः ।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥११॥

वहाँ पहुँचकर यादवोंने यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे शान्तिपाठ आदि तथा और भी सब प्रकारके मङ्गलकृत्य किये ॥ ११ ॥

ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु ।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥१२॥

यह सब तो उन्होंने किया; परन्तु दैवने उनकी बुद्धि हर ली और वे उस मैरेयक नामक मदिराका पान करने लगे, जिसके नशेसे

बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। वह पीनेमें तो अवश्य मीठी लगती है, परन्तु परिणाममें सर्वनाश करनेवाली है ॥ १२ ॥

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम् ।
कृष्णमायाविमूढानां संघर्षः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

उस तीव्र मदिराके पानसे सब-के-सब उन्मत्त हो गये और वे घमंडी वीर एक-दूसरेसे लड़ने-झगड़ने लगे। सच पूछो तो श्रीकृष्णकी मायासे वे मूढ हो रहे थे ॥ १३ ॥

युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः ।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥ १४ ॥

उस समय वे क्रोधसे भरकर एक दूसरेपर आक्रमण करने लगे और धनुष-बाण, तलवार, भाले, गदा, तोमर और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे वहाँ समुद्रतटपर ही एक-दूसरेसे भिड़ गये ॥ १४ ॥

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहञ्छरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥ १५ ॥

मतवाले यदुवंशी रथों, हाथियों, घोड़ों, गधों, ऊँटों, खच्चरों, बैलों, भैंसों और मनुष्योंपर भी सवार होकर एक-दूसरेको बाणोंसे घायल करने लगे—मानो जंगली हाथी एक-दूसरेपर दाँतोंसे चोट कर रहे हों। सबकी सवारियोंपर ध्वजाएँ फहरा रही थीं, पैदल सैनिक भी आपसमें उलझ रहे थे ॥ १५ ॥

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरा-
वक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।

सुभद्रसङ्ग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः ॥ १६ ॥

प्रद्युम्न साम्बसे, अक्रूर भोजसे, अनिरुद्ध सात्यकिसे, सुभद्र संग्रामजित्से, भगवान् श्रीकृष्णके भाई गद उसी नामके उनके पुत्रसे और सुमित्र सुरथसे युद्ध करने लगे। ये सभी बड़े भयङ्कर योद्धा थे और क्रोधमें भरकर एक दूसरेका नाश करनेपर तुल गये थे॥ १६ ॥

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त निशठ, उल्मुक, सहस्रजित, शतजित् और भानु आदि यादव भी एक-दूसरेसे गुँथ गये। भगवान् श्रीकृष्णकी मायाने तो इन्हें अत्यन्त मोहित कर ही रक्खा था, इधर मदिराके नशेने भी इन्हें अंधा बना दिया था॥ १७ ॥

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ॥ १८ ॥

दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर और कुन्ति आदि वंशोंके लोग सौहार्द और प्रेमको भुलाकर आपसमें मार-काट करने लगे॥ १८ ॥

पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहञ्ज्ञातय एव मूढाः ॥ १९ ॥

मूढतावश पुत्र पिताका, भाई भाईका, भानजा मामाका, नाती नानाका, मित्र मित्रका, सुहृद् सुहृद्का, चाचा भतीजेका तथा एक गोत्रवाले आपसमें एक-दूसरेका खून करने लगे ॥ १९ ॥

शरेषु क्षीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु ।
शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः ॥ २० ॥

अन्तमें जब उनके सब बाण समाप्त हो गये, धनुष टूट गये और शस्त्रास्त्र नष्ट-भ्रष्ट हो गये तब उन्होंने अपने हाथोंसे समुद्रतट-पर लगी हुई एरका नामकी घास उखाड़नी शुरू की। यह वही घास थी, जो ऋषियोंके शापके कारण उत्पन्न हुए लोहमय मूसलके चूरसे पैदा हुई थी ॥ २० ॥

ता वज्रकल्पा ह्यभवन् परिघा मुष्टिना भृताः[1] ।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते ॥ २१ ॥
प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः ।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः[2] ॥ २२ ॥

हे राजन्! उनके हाथोंमें आते ही वह घास वज्रके समान कठोर मुद्गरोंके रूपमें परिणत हो गयी। अब वे रोषमें भरकर उसी घासके द्वारा अपने विपक्षियोंपर प्रहार करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने

१. धृताः । २. न्नापतन्नाततायिनः ।

उन्हें मना किया, तो उन्होंने उनको और बलरामजीको भी अपना शत्रु समझ लिया। उन आततायियोंकी बुद्धि ऐसी मूढ़ हो रही थी कि वे उन्हें मारनेके लिये उनकी ओर दौड़ पड़े ॥ २१-२२ ॥

अथ तावपि संक्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन ।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥ २३ ॥

कुरुनन्दन ! अब भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी भी क्रोधमें भरकर युद्धभूमिमें इधर-उधर विचरने और मुट्ठी-की-मुट्ठी एरका घास उखाड़-उखाड़कर उन्हें मारने लगे। एरका घासकी मुट्ठी ही मुद्गरके समान चोट करती थी ॥ २३ ॥

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् ।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम् ॥ २४ ॥

जैसे बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न होकर दावानल बाँसोंको ही भस्म कर देता है, वैसे ही ब्रह्मशापसे ग्रस्त और भगवान् श्रीकृष्णकी माया-से मोहित यदुवंशियोंके स्पर्द्धामूलक क्रोधने उनका ध्वंस कर दिया ॥ २४ ॥

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः ।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः ॥ २५ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका, तब उन्होंने यह सोचकर सन्तोषकी साँस ली कि पृथ्वीका बचा-खुचा भार भी उतर गया ॥ २५ ॥

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम् ।
तत्याज लोकं[1] मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥

---

१. लोकमाविश्य ।

परीक्षित् ! बलरामजीने समुद्रतटपर बैठकर एकाग्रचित्तसे परमात्मचिन्तन करते हुए अपने आत्माको आत्मस्वरूपमें ही स्थिर कर लिया और मनुष्यशरीर छोड़ दिया ॥ २६ ॥

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः ।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥ २७ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरे बड़े भाई बलरामजी परमपदमें लीन हो गये, तब वे एक पीपलके पेड़के तले जाकर चुपचाप धरतीपर ही बैठ गये ॥ २७ ॥

बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया ।
दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपनी अङ्गकान्तिसे देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण कर रक्खा था और धूमसे रहित अग्निके समान दिशाओंको अन्धकाररहित—प्रकाशमान बना रहे थे ॥ २८ ॥

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम् ।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम् ॥ २९ ॥

वर्षाकालीन मेघके समान साँवले शरीरसे तपे हुए सोनेके समान ज्योति निकल रही थी । वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न शोभायमान था । वे रेशमी पीताम्बरकी धोती और वैसा ही दुपट्टा धारण किये हुए थे । बड़ा ही मङ्गलमय रूप था ॥ २९ ॥

सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् ।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३० ॥

मुखकमलपर सुन्दर मुसकान और कपोलोंपर नीली-नीली अलकें

बड़ी ही सुहावनी लगती थीं। कमलके समान सुन्दर-सुन्दर एवं सुकुमार नेत्र थे। कानोंमें मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे थे ॥३०॥

कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः ।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥३१॥

कमरमें करधनी, कंधेपर यज्ञोपवीत, माथेपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, बाहोंमें बाजूबंद, वक्षःस्थलपर हार, चरणोंमें नूपुर, अँगुलियोंमें अँगूठियाँ और गलेमें कौस्तुभमणि शोभायमान हो रही थी ॥३१॥

वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः ।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् ॥३२॥

घुटनोंतक वनमाला लटकी हुई थी। शङ्ख, चक्र, गदा आदि आयुध मूर्तिमान् होकर प्रभुकी सेवा कर रहे थे। उस समय भगवान् अपनी दाहिनी जाँघपर बायाँ चरण रखकर बैठे हुए थे। लाल-लाल तलवा रक्त कमलके समान चमक रहा था ॥ ३२ ॥

मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥३३॥

परीक्षित् ! जरा नामका एक बहेलिया था। उसने मूसलके बचे हुए टुकड़ेसे अपने बाणकी गाँसी बना ली थी। उसे दूरसे भगवान्‌का लाल-लाल तलवा हरिनके मुखके समान जान पड़ा। उसने उसे सचमुच हरिन समझकर अपने उसी बाणोंसे बींध दिया ॥ ३३ ॥

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥३४॥

जब वह पास आया, तब उसने देखा कि 'अरे ! ये तो चतुर्भुज

पुरुष हैं ।' अब तो वह अपराध कर चुका था, इसलिये डरके मारे काँपने लगा और दैत्यदलन भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर सिर रखकर धरतीपर गिर पड़ा ॥ ३४ ॥

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन ।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥३५॥

उसने कहा—'हे मधुसूदन ! मैंने अनजानमें यह पाप किया है । सचमुच मैं बहुत बड़ा पापी हूँ; परन्तु आप परमयशस्वी और निर्विकार हैं । आप कृपा करके मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥३५॥

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम् ।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो ॥३६॥

सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् प्रभो ! महात्मा लोग कहा करते हैं कि आपके स्मरणमात्रसे मनुष्योंका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है । बड़े खेदकी बात है कि मैंने स्वयं आपका ही अनिष्ट कर दिया ॥३६॥

तन्माऽऽशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम् ।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥३७॥

वैकुण्ठनाथ ! मैं निरपराध हरिणोंको मारनेवाला महापापी हूँ । आप मुझे अभी-अभी मार डालिये, क्योंकि मर जानेपर मैं फिर कभी आप-जैसे महापुरुषोंका ऐसा अपराध न करूँगा ॥ ३७ ॥

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥३८॥

भगवन् ! सम्पूर्ण विद्याओंके पारदर्शी ब्रह्माजी और उनके पुत्र

रुद्र आदि भी आपकी योगमायाका विलास नहीं समझ पाते; क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी मायासे आवृत है। ऐसी अवस्थामें हमारे-जैसे पापयोनि लोग उसके विषयमें कह ही क्या सकते हैं?' ॥ ३८ ॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम्॥ ३९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे जरे! तू डर मत, उठ-उठ! यह तो तूने मेरे मनका काम किया है। जा, मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है॥३९॥

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ॥ ४० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण तो अपनी इच्छासे शरीर धारण करते हैं। जब उन्होंने जरा व्याधको यह आदेश दिया, तब उसने उनकी तीन परिक्रमा की, नमस्कार किया और विमानपर सवार होकर स्वर्गको चला गया॥ ४० ॥

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम्।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ॥ ४१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका सारथि दारुक उनके स्थानका पता लगाता हुआ उनके द्वारा धारण की हुई तुलसीकी गन्धसे युक्त वायु सूँघकर और उससे उनके होनेके स्थानका अनुमान लगाकर सामनेकी ओर गया॥ ४१ ॥

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम्।

स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥ ४२ ॥

दारुकने वहाँ जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण पीपलके वृक्ष-के नीचे आसन लगाये बैठे हैं। असह्य तेजवाले आयुध मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें संलग्न हैं। उन्हें देखकर दारुकके हृदयमें प्रेम-की बाढ़ आ गयी। नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। वह रथसे कूदकर भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़ा ॥ ४२ ॥

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रणष्टा तमसि प्रविष्टा।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रणष्टे ॥ ४३ ॥

उसने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! रात्रिके समय चन्द्रमा-के अस्त हो जानेपर राह चलनेवालेकी जैसी दशा हो जाती है, आपके चरणकमलोंका दर्शन न पाकर मेरी भी वैसी ही दशा हो गयी है। मेरी दृष्टि नष्ट हो गयी है, चारों ओर अँधेरा छा गया है। अब न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान है और न मेरे हृदयमें शान्ति ही है' ॥ ४३ ॥

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥ ४४ ॥

परीक्षित्! अभी दारुक इस प्रकार कह ही रहा था कि उसके सामने ही भगवान्‌का गरुडध्वज रथ पताका और घोड़ोंके साथ आकाशमें उड़ गया ॥ ४४ ॥

तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥ ४५ ॥

उसके पीछे-पीछे भगवान्‌के दिव्य आयुध भी चले गये। यह सब देखकर दारुकके आश्चर्यकी सीमा न रही। तब भगवान्‌ने उससे कहा—॥ ४५ ॥

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः।
संकर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम् ॥ ४६ ॥

'दारुक! अब तुम द्वारका चले जाओ और वहाँ यदुवंशियोंके पारस्परिक संहार, भैया बलरामजीकी परम गति और मेरे स्वधामगमनकी बात कहो' ॥ ४६ ॥

द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ ४७ ॥

उनसे कहना कि 'अब तुमलोगोंको अपने परिवारवालोंके साथ द्वारकामें नहीं रहना चाहिये। मेरे न रहनेपर समुद्र उस नगरीको डुबो देगा ॥ ४७ ॥

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥ ४८ ॥

सब लोग अपनी-अपनी धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब और मेरे माता-पिताको लेकर अर्जुनके संरक्षणमें इन्द्रप्रस्थ चले जायँ ॥ ४८ ॥

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥ ४९ ॥

दारुक! तुम मेरे द्वारा उपदिष्ट भागवतधर्मका आश्रय लो और ज्ञाननिष्ठ होकर सबकी उपेक्षा कर दो तथा इस दृश्यको मेरी मायाकी रचना समझकर शान्त हो जाओ' ॥ ४९ ॥

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ॥ ५० ॥

भगवान्‌का यह आदेश पाकर दारुकने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणकमल अपने सिरपर रखकर बारंबार प्रणाम किया, तदनन्तर वह उदास मनसे द्वारकाके लिये चल पड़ा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

श्रीभगवान्‌का स्वधामगमन

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद् ब्रह्मा भवान्या च समं भवः ।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥ १ ॥
पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥ २ ॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः ।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥ ३ ॥
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः ।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन् भक्त्या परमया युताः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! दारुकके चले जानेपर ब्रह्माजी, शिव-पार्वती, इन्द्रादि लोकपाल, मरीचि आदि प्रजापति बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, पितर-सिद्ध, गन्धर्व-विद्याधर, नाग-चारण, यक्ष-राक्षस, किन्नर-अप्सराएँ तथा गरुडलोकके विभिन्न पक्षी अथवा मैत्रेय आदि ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम-प्रस्थानको देखनेके लिये बड़ी उत्सुकतासे वहाँ आये। वे सभी भगवान् श्रीकृष्णके जन्म और लीलाओंका गान अथवा वर्णन कर रहे थे। उनके विमानोंसे सारा आकाश भर-सा गया था। वे बड़ी भक्तिसे भगवान्पर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १—४ ॥

भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजी और अपने विभूतिस्वरूप देवताओंको देखकर अपने आत्माको स्वरूपमें स्थित किया और कमलके समान नेत्र बंद कर लिये ॥ ५ ॥

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥ ६ ॥

भगवान्का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है; इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्निदेवतासम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें चले गये ॥ ६ ॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात् ।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः ॥ ७ ॥

उस समय स्वर्गमें नगारे बजने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे इस लोकसे सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और श्रीदेवी भी चली गयीं॥ ७॥

देवादयो ब्रह्ममुख्या न[1] विशन्तं स्वधामनि।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्णकी गति मन और वाणीके परे है; तभी तो जब भगवान् अपने धाममें प्रवेश करने लगे, तब ब्रह्मादि देवता भी उन्हें न देख सके। इस घटनासे उन्हें बड़ा ही विस्मय हुआ॥ ८॥

सौदामन्या[2] यथाऽऽकाशे यान्त्या[3] हित्वाभ्रमण्डलम्।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥ ९॥

जैसे बिजली मेघमण्डलको छोड़कर जब आकाशमें प्रवेश करती है, तब मनुष्य उसकी चाल नहीं देख पाते, वैसे ही बड़े-बड़े देवता भी श्रीकृष्णकी गतिके सम्बन्धमें कुछ न जान सके॥ ९॥

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा॥१०॥

ब्रह्माजी और भगवान् शङ्कर आदि देवता भगवान्की यह परमयोगमयी गति देखकर बड़े विस्मयके साथ उसकी प्रशंसा करते अपने-अपने लोकमें चले गये॥ १०॥

राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविडम्बनमवेहि तथा नटस्य।

---

१. निविशन्तं। २. सौदामनी। ३. याति।

सृष्ट्वाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते ॥११॥

परीक्षित् ! जैसे नट अनेकों प्रकारके स्वाँग बनाता है, परन्तु रहता है उन सबसे निर्लेप, वैसे ही भगवान्‌का मनुष्योंके समान जन्म लेना, लीला करना और फिर उसे संवरण कर लेना उनकी मायाका विलासमात्र है—अभिनयमात्र है। वे स्वयं ही इस जगत्‌की सृष्टि करके इसमें प्रवेश करके विहार करते हैं और अन्तमें संहार-लीला करके अपने अनन्त महिमामय स्वरूपमें ही स्थित हो जाते हैं ॥ ११ ॥

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥१२॥

सान्दीपनि गुरुका पुत्र यमपुरी चला गया था, परन्तु उसे वे मनुष्य-शरीरके साथ लौटा लाये। तुम्हारा ही शरीर ब्रह्मास्त्रसे जल चुका था; परन्तु उन्होंने तुम्हें जीवित कर दिया। वास्तवमें उनकी शरणागतवत्सलता ऐसी ही है। और तो क्या कहूँ, उन्होंने कालोंके महाकाल भगवान् शङ्करको भी युद्धमें जीत लिया और अत्यन्त अपराधी—अपने शरीरपर ही प्रहार करनेवाले व्याधको भी सदेह स्वर्ग भेज दिया। प्रिय परीक्षित् ! ऐसी स्थितिमें क्या वे अपने शरीरको सदाके लिये यहाँ नहीं रख सकते थे ? अवश्य ही रख सकते थे ॥ १२ ॥

तथाऽप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥१३॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और संहारके निरपेक्ष कारण हैं तथापि उन्होंने अपने शरीरको इस संसारमें बचा रखनेकी इच्छा नहीं की। इससे उन्होंने यह दिखाया कि इस मनुष्य-शरीरसे मुझे क्या प्रयोजन है? आत्मनिष्ठ पुरुषोंके लिये यही आदर्श है कि वे शरीर रखनेकी चेष्टा न करें ॥ १३ ॥

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम्।
प्रयतः कीर्तयेद् भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥१४॥

जो पुरुष प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमनकी इस कथाका एकाग्रता और भक्तिके साथ कीर्तन करेगा, उसे भगवान्‌का वही सर्वश्रेष्ठ परमपद प्राप्त होगा ॥ १४ ॥

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः।
पतित्वा चरणावस्रैर्न्यषिञ्चत् कृष्णविच्युतः ॥१५॥

इधर दारुक भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल होकर द्वारका आया और वसुदेवजी तथा उग्रसेनके चरणोंपर गिर-गिरकर उन्हें आँसुओंसे भिगोने लगा ॥ १५ ॥

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः ॥१६॥

परीक्षित् ! उसने अपनेको सँभालकर यदुवंशियोंके विनाशका पूरा-पूरा विवरण कह सुनाया । उसे सुनकर लोग बहुत ही दुखी हुए और मारे शोकके मूर्च्छित हो गये ॥ १६ ॥

तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः[1] ।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम् ॥१७॥

भगवान् श्रीकृष्णके वियोगसे विह्वल होकर वे लोग सिर पीटते हुए वहाँ तुरंत पहुँचे, जहाँ उनके भाई-बन्धु निष्प्राण होकर पड़े हुए थे ॥ १७ ॥

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम् ॥१८॥

देवकी, रोहिणी और वसुदेवजी अपने प्यारे पुत्र श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर शोककी पीडासे बेहोश हो गये ॥ १८ ॥

प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः ।
उपगुह्य पतींस्तात[2] चितामारुरुहुः स्त्रियः ॥१९॥

उन्होंने भगवद्विरहसे व्याकुल होकर वहीं अपने प्राण छोड़ दिये । स्त्रियोंने अपने-अपने पतियोंके शव पहचानकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और उनके साथ चितापर बैठकर भस्म हो गयीं ॥ १९ ॥

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन् ।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन् हरेः स्नुषाः ।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः ॥२०॥

१. कृष्ण कृष्णेति विह्वलाः । २. स्ता वै० ।

बलरामजीकी पत्नियाँ उनके शरीरको, वासुदेवजीकी पत्नियाँ उनके शवको और भगवान्‌की पुत्रवधुएँ अपने पतियोंकी लाशोंको लेकर अग्निमें प्रवेश कर गयीं। भगवान् श्रीकृष्णकी रुक्मिणी आदि पटरानियाँ उनके ध्यानमें मग्न होकर अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं॥ २०॥

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥२१॥

परीक्षित! अर्जुन अपने प्रियतम और सखा भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे पहले तो अत्यन्त व्याकुल हो गये; फिर उन्होंने उन्हींके गीतोक्त सदुपदेशोंका स्मरण करके अपने मनको सँभाला॥ २१॥

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम्।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः॥२२॥

यदुवंशके मृत व्यक्तियोंमें जिनको कोई पिण्ड देनेवाला न था, उनका श्राद्ध अर्जुनने क्रमशः विधिपूर्वक करवाया॥ २२॥

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्जयित्वा महाराज[1] श्रीमद्भगवदालयम्॥२३॥

महाराज! भगवान्‌के न रहनेपर समुद्रने एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णका निवास-स्थान छोड़कर एक ही क्षणमें सारी द्वारका डुबो दी॥ २३॥

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्॥२४॥

भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ अब भी सदा-सर्वदा निवास करते हैं।

---

१. महाभाग।

वह स्थान स्मरणमात्रसे ही सारे पाप-तापोंका नाश करनेवाला और सर्वमङ्गलोंको भी मङ्गल बनानेवाला है ॥ २४ ॥

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनञ्जयः ।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥ २५ ॥

प्रिय परीक्षित् ! पिण्डदानके अनन्तर बची-खुची स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ोंको लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये । वहाँ सबको यथायोग्य बसाकर अनिरुद्धके पुत्र वज्रका राज्याभिषेक कर दिया ॥ २५ ॥

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहः ।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥ २६ ॥

राजन् ! तुम्हारे दादा युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको अर्जुनसे ही यह बात मालूम हुई कि यदुवंशियोंका संहार हो गया है । तब उन्होंने अपने वंशधर तुम्हें राज्यपदपर अभिषिक्त करके हिमालयकी वीरयात्रा की ॥ २६ ॥

य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २७ ॥

मैंने तुम्हें देवताओंके भी आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मलीला और कर्मलीला सुनायी । जो मनुष्य श्रद्धाके साथ इसका कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।

---

१. समाविश्य ।

अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥ २८ ॥

परीक्षित् ! जो मनुष्य इस प्रकार भक्तभयहारी निखिल सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीकृष्णचन्द्रके अवतार-सम्बन्धी रुचिर पराक्रम और इस श्रीमद्भागवत महापुराणमें तथा दूसरे पुराणोंमें वर्णित परमानन्दमयी बाललीला, कैशोरलीला आदिका संकीर्तन करता है, वह परमहंस मुनीन्द्रोंके अन्तिम प्राप्तव्य श्रीकृष्णके चरणोंमें पराभक्ति प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

॥ इत्येकादशः स्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥



त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-

स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दा-

ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥

राजन्! बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्के ऐसे चरणकमलोंसे आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी संनिधि और सेवामें ही संलग्न रहता है, यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है।

—इसी पुस्तकसे